ॐ

गायत्री-महत्त्व

लेखक

चिरंजीवलाल वानप्रस्थी

प्राप्ति-स्थान

मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,

गुरुदत्त भवन, लाहौर

प्रथम संस्करण 1000 | फ़रवरी, १९४० | मूल्य बारह आने

प्रकाशक :

श्री जयदेव

काश्मीर मैटल मार्ट

श्रीनगर (काश्मीर)

मुद्रक :

श्री प्रकाशचन्द्र

दी आर्य प्रेस लिमिटेड

मोहनलाल रोड, लाहौर

विषय-सूची

भूमिका

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में कहा है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

इसका अर्थ है "जब मनुष्य आकाश को चमड़े की तरह से लपेटने में समर्थ हो जायँगे, तब परमात्मा को जाने बिना ही दुख का अन्त हो सकेगा!" जिस तरह आकाश को चमड़े की तरह लपेटना असम्भव है, उसी तरह उस महान् देव का ज्ञान प्राप्त किए बिना मनुष्य दुखों से छुटकारा नहीं पा सकता।

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने दुखों को तीन श्रेणियों में बाँटा है—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। शारीरिक कारणों से तथा सांसारिक लेन-देन और संयोग-वियोग आदि से जो दुख होते हैं, उन्हें आधिभौतिक कहा जा सकता है। जिन दुखों पर हमारा बस नहीं चलता और जिनका कारण दैवीय है, उन्हें आधिदैविक दुख कहा जाता है। मानसिक और आत्मा-संबन्धी दुखों की गणना आध्यात्मिक दुखों में है। ये सभी दुख केवल परमपिता परमेश्वर की कृपा और सहायता से ही दूर हो सकते हैं। उसी प्रभु की सहायता से मनुष्य इन दुखों का नाश कर शारीरिक,

मानसिक और आत्मिक सुखों को प्राप्त कर सकता है। और परमात्मा की सहायता तथा आशीर्वाद प्राप्त करने का उपाय गायत्री-मन्त्र में वर्णित है।

योगिवर श्री अरविन्द घोष ने अपनी "लाइट ऑन योग" (Light on Yoga) नामक पुस्तक में लिखा है कि योग का मार्ग 'आत्मज्ञान, आत्मनियन्त्रण और आत्मसमर्पण' का मार्ग है। गायत्री-मन्त्र में भी मुख्यतया इसी मार्ग का उपदेश दिया गया है। गायत्री-मन्त्र के प्रथम दो पदों में परमात्मा के महान् गुणों का वर्णन किया गया है; इन गुणों की अनुभूति द्वारा ही साधक को आत्मज्ञान हो सकता है और आत्मज्ञान के द्वारा, अपने को उस प्रभु के निकट ले जाने की इच्छा से, साधक स्वयमेव आत्मनियन्त्रण का मार्ग अवलम्बन करेगा। गायत्री-मन्त्र के तीसरे चरण में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे। इस प्रार्थना का अभिप्राय ही यह है कि साधक उस महाप्रभु के सन्मुख अपना आत्म-समर्पण कर देता है। जब साधक ने अपनी बुद्धि की प्रेरणा का स्रोत ही उस महाप्रभु को बना दिया तो उसमें मिथ्याभिमान अथवा अहङ्कार बाकी कहाँ रह गया।

इस तरह संसार के सभी दुखों से छुटकारा पाने और वास्तविक योग-मार्ग द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का उपाय गायत्री-मन्त्र में वर्णित है। अतः आध्यात्मिक साधकों का निस्तार केवल इसी गायत्री-मन्त्र की सतत साधना द्वारा हो सकता है।

बचपन ही से मेरी रुचि आर्यसमाज की ओर रही है।

अपने बालकपन से मैं आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों में जाता रहा हूँ। मुख्यतः इसी बात ने मुझे आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट किया। सन् १९०१ से काश्मीर में मैंने अपना कारोबार शुरू किया और वहाँ के स्थानीय आर्यसमाज में दिलचस्पी लेने लगा। पिछले ४० बरसों में श्रीनगर आर्यसमाज से मेरा घनिष्ठतम सम्बन्ध रहा है और श्रीनगर की विशेष परिस्थितियों के कारण वहाँ आर्यसमाज के मान्य उपदेशकों, प्रचारकों तथा सन्तों से मिलने-जुलने का सौभाग्य मुझे प्रायः प्राप्त होता रहा है। गायत्री-मन्त्र के महत्त्व की ओर मेरा ध्यान इसी कारण आकृष्ट हुआ और आज अपने अनुभव के बल पर मैं कह सकता हूँ कि जितनी आत्मिक शान्ति मुझे गायत्री माता के प्रसाद से प्राप्त हुई है, उतनी अन्य किसी बात से नहीं। अपनी उपर्युक्त साधना का परिणाम मैं आज पाठकों के सन्मुख इस इच्छा से प्रस्तुत कर रहा हूँ कि वे आध्यात्मिकता के स्रोत इस गायत्री-मन्त्र की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हों।

गायत्री-मन्त्र के केवल वे ही अर्थ नहीं, जो इस पुस्तक में वर्णित हैं। गायत्री तो अमृत के भण्डार के समान है, अपनी-अपनी आवश्यकता और सामर्थ्य के अनुसार, इससे चाहें जो अर्थ निकाले जा सकते हैं। जिस तरह एक दवाई के अनेक प्रयोग हो सकते हैं। मैंने इस पुस्तक में गायत्री-मंत्र के जो अर्थ लिये हैं, वे मुख्यतः आध्यात्मिक साधकों के लिए हैं।

गायत्री-मन्त्र का जाप करने के लिए सबसे अधिक आवश्यक चीज़ एकान्त-सेवन है। मेरी राय में एकान्त-सेवन आत्मा का उसी प्रकार का आहार है, जिस प्रकार शरीर का आहार अन्न है। एकान्त-सेवन आत्मा की आवश्यक खुराक है। साधकों को गायत्री-मन्त्र का जाप सदैव एकान्त में ही करना चाहिए और तब अपनी सम्पूर्ण चित्त-वृत्तियों को गायत्री-मन्त्र की ओर ही केन्द्रित कर देना चाहिए।

अन्त में मैं पण्डित विश्वदेव जी तथा चि० चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार के प्रति विशेष कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने में मुझे बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता दी है।

१८, रैटीगन रोड, लाहौर
२६ जनवरी, १६४०

चिरञ्जीवलाल

गायत्री-महत्त्व

गुरुमन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

[१]

गुरुमन्त्र की महत्ता

मनुष्य के जीवन को उत्तम और मंगलकारी बनाने, तथा लोक-परलोक की सिद्धि का साधन उपर्युक्त गुरुमन्त्र ही है। इस मन्त्र को गायत्री माता, पतितपावनी सावित्री और वेद का सार कहा गया है। पूर्वकाल में उपदेश करनेवाले महात्माओं से और आजकल ऋषि दयानन्द आदि धर्म और ब्रह्मज्ञान के प्रचारकों से, जब किसी जिज्ञासु ने उपदेश चाहा या अपने कल्याण की बात पूछी, तो उन्होंने गायत्री-मन्त्र का अर्थ-सहित जाप करने का ही उपदेश दिया।

ऋषि दयानन्द के उपदेश सुनने के लिए एक धुनिया भी आया करता था। एक दिन उसने अपने कल्याण के लिए ऋषिवर से उपदेश चाहा और निवेदन किया—"मैं कुछ

पढ़ा-लिखा नहीं। आपके उपदेश विद्वत्तापूर्ण होते हैं, इसलिए मुझ मूर्ख को भी कोई कल्याण का मार्ग बताने की कृपा कीजिए।"

इस पर ऋषि ने उसे अर्थ-सहित गायत्री-मन्त्र लिखकर दिया और उससे कहा—"इस मन्त्र और उसके अर्थ को स्मरण कर जाप करते रहो। साथ ही रुई के व्यवहार में सच्चे तथा ईमानदार रहने का प्रण करो। इसी से तुम्हारा कल्याण हो जायगा।"

सामाजिक दृष्टि से बहुत-से ऊँचे व्यक्ति तथा राजा-महाराजा आदि भी जब जिज्ञासु बनकर ऋषि के पास कल्याण-मार्ग पूछने के लिए आया करते थे, उनको भी वह व्यवहार-शुद्धि के साथ-साथ गायत्री-मन्त्र-जाप का उपदेश करते थे।

स्वामी विवेकानन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि जैसे आत्मघात करने के लिए मनुष्य के पास एक मामूली-सा नश्तर होना ही काफ़ी है, जिसे गले पर लगाकर वह अपना जीवनान्त कर सकता है, परन्तु दूसरे को मारने के लिए बड़े हथियार की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार किसी व्यक्ति के अपने कल्याण के लिए केवल गायत्री-मन्त्र तथा 'ओ३म्' शब्द का जाप ही पर्याप्त है। जैसे औषधि का चुटकी भर सार शरीर को नीरोग करने के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है।

प्रभु की समीपता प्राप्त करने के लिए, उस जगन्माता की

पूजा के लिए जहाँ उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करने का शास्त्रों में विधान है, और उसी को राजयोग भी कहा गया है,—वहाँ गायत्री-मन्त्र के जाप की भी बड़ी महिमा गाई गई है। वेद, शास्त्र, उपनिषद् के अतिरिक्त मनु आदि स्मृतिकारों ने भी गायत्री-जाप का महत्त्व सैकड़ों स्थानों पर बड़ी ही उत्तम रीति से वर्णन किया है। परन्तु जहाँ हमारी पूजा अर्थात् स्तुति, प्रार्थना और उपासना का ढंग बिगड़ गया, वहाँ जाप की रीति भी उलटी हो गई। तात्पर्य यह है कि उस जाप के मूल में जो तत्त्व काम करता था, उसे भुला दिया गया। इसलिए, बीज के अनुसार फल की भाँति, हमारी प्रभुभक्ति तथा जाप का वैसा फल नहीं निकलता, जैसा होना चाहिए था।

एक ओर ईश्वरपूजा भी टके देकर होने लगी और केवल पण्डितों तथा पुरोहितों के सहारे पर ही उसे छोड़ दिया गया, दूसरी ओर गायत्री-जाप भी बिकने लगा। इस प्रकार कल्याण-पथप्रदर्शक इस अमूल्य आध्यात्मिक रत्न की भी हमने आटे-दाल की भाँति बिक्री शुरू कर इसकी दुर्गति कर दी। इसी लिए आज गायत्री का जाप हमें कोई लाभ नहीं पहुँचा रहा। यहाँ तक कि आर्य सज्जनों के संस्कारों में भी आजकल प्रायः पण्डित ही स्तुति-प्रार्थना आदि मन्त्र-पाठ कर देते हैं। यह उन्हीं का कार्य समझा जाता है। यजमान तथा उनके सम्बन्धी लोग इष्ट-मित्रों के सत्कार तथा उनके साथ बातचीत करने में ही संस्कार की सफलता समझते हैं। ऐसी अवस्था

में यजमान को स्तुति-प्रार्थना आदि से क्या लाभ हो सकता है। यही कारण है कि वर्तमान संस्कारों से वास्तविक फल प्राप्त नहीं होता है। आज माला तथा तसबीह आदि फेरने वालों की भाँति हम आर्यसमाजी भी शब्दमात्र गायत्री का ही जाप करके फल की इच्छा रखते हैं; परन्तु उसका कोई फल नहीं निकलता। इससे निराशा की उत्पत्ति स्वाभाविक ही है; क्योंकि शब्दमात्र जाप का कहीं भी विधान नहीं है।

वास्तव में आजकल हमारे प्रायः सभी संस्कार, सन्ध्या तथा जाप आदि परमेश्वर के गुणों को धारण करने तथा शक्ति की प्राप्ति की इच्छा से किये ही नहीं जाते अपितु व्यवहार की दृष्टि से, लोकलाज, रीतिरिवाज तथा अपने साथियों में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से किये जाते हैं। इसका कारण यह है कि संस्कृत विद्या, जिसमें हमारे धार्मिक ग्रन्थ तथा उपासना आदि के मन्त्र हैं, केवल ब्राह्मणों के लिए ही छोड़ दी गई हैं। दूसरे वर्णों ने अपने लिए संस्कृत पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं समझी। फलतः वे उसके तत्त्व से बिलकुल वञ्चित हो गये हैं।

ऋषि दयानन्द की कृपा से हमारा ध्यान वेदवाणी की ओर आकृष्ट हुआ है और पूजा तथा जाप के मन्त्र भी हमें ज्ञात हो गए हैं; तथापि उन मन्त्रों के अर्थों को न जानने के कारण उनके जाप आदि पर हमारा विश्वास उत्पन्न नहीं होता। इसी कारण उन मन्त्रों के पाठ तथा जाप में हमारा मन भी एकाग्र नहीं होता। इस त्रुटि को दूर करने के लिए

गायत्री-मन्त्र की महिमा, उसके अर्थों का कुछ स्पष्टीकरण, सर्व-साधारण जनता के सम्मुख उपस्थित करने की आवश्यकता है, जिससे जनता की रुचि इस ओर बढ़े। उसी दशा में विधिपूर्वक और अर्थ-सहित इस पवित्र मन्त्र का जाप कर जनता यथार्थ लाभ उठाए और शान्ति प्राप्त करे।

प्रभुभक्ति के विषय में हमारी प्राचीन संस्कृति का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ महर्षि पतञ्जलि-निर्मित योगदर्शन है। उसमें ऋषि ने जाप के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूत्र लिखे हैं—

१. *"स्वाध्यायात् योगमासीत"*

किसी वस्तु को याथातथ्य रीति से जानने और उससे सान्निद्ध्य प्राप्त करने के लिए सबसे पूर्व उस वस्तु का स्वाध्याय अर्थात् उसके गुणों को जानना, आवश्यक है।

२. *"तज्जपस्तदर्थ भावनम्"*

उसके गुणों को समझने के पश्चात् उन गुणों को अपने अन्दर लाने के लिए उसका जाप अर्थ की भावना करते हुए करना चाहिये।

३. *"स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः"*

स्वाध्याय से अर्थात् उसके गुणों को जानने से अपने इष्ट देवता की प्राप्ति होती है। मनु भगवान् ने भी इस बात को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

"वेद शास्त्रार्थ तत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥"

वेद-शास्त्र के अर्थ का सार जाननेवाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे, वह इस लोक (जन्म) में ही रहकर मोक्ष (परमानन्द) प्राप्त कर लेता है।

संसार में जिस वस्तु के गुण विदित हों और निश्चय हो जाय कि यह मेरे लिए लाभकारी तथा कल्याणप्रद है, उस वस्तु के लिए श्रद्धा और प्रेम होने पर उस वस्तु की प्राप्ति के लिए कष्ट-सहन अर्थात् तप का अनुष्ठान किया जाता है। जैसे, जब तक किसी पुरुष को यह ज्ञात न हो कि गन्ने के क्या गुण हैं; उससे शक्कर, खाँड आदि भी बन सकती है; तब तक गन्ने की प्राप्ति के लिए किसी प्रकार का कोई पुरुषार्थ वह नहीं करेगा। इसी प्रकार कुनीन या मिर्च के गुण पता होने पर, इन में से लाभदायक वस्तु की प्राप्ति के लिए यत्न किया जाता है, हानिकर वस्तु के लिए नहीं। इसी प्रकार गायत्री-मंत्र के अर्थ तथा गुणों का ज्ञान होने पर ही उसके लिए श्रद्धा तथा प्रेम का प्रादुर्भाव होगा और तभी उसके लिए उचित प्रयत्न किया जायगा, जिसके परिणाम-स्वरूप वास्तविक फल की प्राप्ति होगी। यही निराकार ईश्वर की पूजा की पद्धति है। इसलिए आर्य-समाज-का कर्तव्य है कि वह इस निराकार पूजा को आचरण-रूप से जनता के सम्मुख रक्खे।

पहले कहा गया है कि गायत्री-मन्त्र को ऋषि-मुनियों ने गुरुमन्त्र, वेद का सार, सावित्री माता और पतितपावनी कहा है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए कुछ उदा-हरण नीचे लिखे जाते हैं—

(१) भारतीय आर्य जनता में यज्ञोपवीत-संस्कार बड़े महत्व का गिना जाता है। इस संस्कार के समय शास्त्र के आदेशानुसार गुरु शिष्य को इसी मन्त्र का उपदेश करता है। इसलिए सर्वोत्तम यही गुरुमंत्र है।

(२) संन्यास-आश्रम में प्रवेश करते हुए नाभिपर्यन्त जल में खड़े होकर संन्यासी, "ओ३म् भूर्भुवः स्वः। सावित्रीं प्रविशामि" इसका वार वार पाठ करता है। अर्थात् वह प्रतिज्ञा करता हुआ कह रहा है कि आज से मेरी माता सावित्री है।

(३) वेद में ऋग्, यजुः तथा साम अर्थात् ज्ञान, कर्म तथा उपासना का विधान है, हम इसी को स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना नाम से भी पुकारते हैं और इस मंत्र में उपर्युक्त बात सार-रूप से, जितनी मनुष्य के कल्याणार्थ आवश्यक है, बताई गई है, अतएव इस मंत्र को वेद का सार कहा गया है।

(४) जब राक्षसों से यज्ञ की रक्षार्थ वन ले जाते समय श्रीरामचन्द्र जी ऋषिवर विश्वामित्र के साथ सरयू नदी के तट पर ठहरे थे, तब प्रातः होने पर सन्ध्या समय ऋषि ने उनको उठा कर कहा—

"कौशल्या सुप्रजा राम पूर्वं संध्या प्रवर्तते।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम्॥
तस्यर्षेः परमोदारं वचः श्रुत्वा नरोत्तमौ।
स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जपेतुः परमं जपम्॥"

"राम, तू सुपुत्र है अतः अब निद्रा उचित नहीं। अपना

नैत्यिक कार्य कर। यह वचन सुन दोनों भाई आचमन कर *गायत्री जाप में तत्पर हो गये।"*

(५) महाभारत में लिखा है कि जब श्रीकृष्ण संधि के उद्देश्य से हस्तिनापुर जा रहे थे, तब मार्ग में उन्होंने रथ से उतर कर शौच आदि के बाद यथाविधि संध्या की—

अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि।

रथमोचनमादिश्य सन्ध्यामुपविवेश ह॥ उ० ८४।२१

उसके बाद हस्तिनापुर पहुँचकर वह स्नान, हवन और जाप कर कौरवों की सभा की ओर रवाना हुए।

कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलंकृतः॥ उद्योग ९४।६

(६) गीता में भी भगवान् कहते हैं कि "छन्दों में मैं गायत्री हूँ"। इससे विदित होता है कि श्रीराम और कृष्ण जैसे महान् पुरुष भी, जिनको लोगों ने ईश्वर का अवतार तक समझा, इस मन्त्रका जाप करना आवश्यक समझते थे। अतः हमें विश्वास करना चाहिए कि इस मन्त्र में कोई विशेष रहस्य छिपा हुआ है।

(७) श्री स्वामी विवेकानन्द जी ने अमेरिका में गायत्री-मन्त्र पर एक भाषण दिया था। जिसका सारांश यह था— "हिन्दू मूर्तिपूजक न थे, क्योंकि उनका ध्येय (creed) मन्त्र गायत्री-मन्त्र है, इस मन्त्र में "तत्" (वह) शब्द ही एक परोक्ष (invisible) सृष्टिकर्ता अर्थात् सविता की ओर संकेत करता है। कई लोग इस मन्त्र को सूर्य की उपासना

परक बतलाते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि "सविता" शब्द सृष्टिकर्ता ईश्वर की उपासना के लिए है। इसके अतिरिक्त इस मन्त्र में ज्ञान और बुद्धि के लिए प्रार्थना है, जोकि जड़ सूर्य कभी नहीं दे सकता। साथ ही एक विशेष बात यह है कि इस मन्त्र में "नः" शब्द समाज का वाचक है; अर्थात् स्त्री, पुरुष, शूद्र आदि मनुष्य-मात्र को इसके जाप का अधिकार है।"

इससे विदित होता है कि हमारे पूर्वज मूर्तिपूजक नहीं थे। वे निराकार ईश्वर के ही पूजक थे और उनकी निराकार पूजा का मुख्य साधन गायत्री-मन्त्र था और मनुष्य-मात्र को गायत्री-जाप का अधिकार प्राप्त था।

(८) सर मोनियर विलियम (Sir Moniar William) अँग्रेज़ी के एक प्रख्यात लेखक हैं। उन्होंने अपनी "दी बुद्धिज़्म" (The Budhsim) नामक पुस्तक में गायत्री-मन्त्र के सम्बन्ध में निम्नलिखित सम्मति दी है—

"ईसाई-धर्म ईसा के बिना कुछ नहीं, मुस्लिम-धर्म हज़रत मुहम्मद के बिना कुछ नहीं, बौद्ध-धर्म महात्मा बुद्ध के बिना कुछ नहीं, यही पुरुष उनके ध्येय अथवा प्राण हैं, परन्तु मुझे सत्य कहने में संकोच नहीं, यद्यपि मैं ईसाई हूँ। हिन्दुओं का ध्येय-मन्त्र गायत्री है, जो बिना किसी ऋषि-मुनि या महान् पुरुष के जीवित रह सकता है। हिन्दू-धर्म का आधार किसी विशेष मनुष्य पर नहीं है। इस मन्त्र के द्वारा सीधा परमेश्वर से ही हर एक मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।"

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि विदेशी विद्वान् भी इस गायत्री-मन्त्र की कितनी प्रशंसा करते हैं और मनुष्य के कल्याण के लिए इसे कितना श्रेष्ठ मानते हैं।

(६) बुद्ध भगवान् ने "सुत्तनिपात" में ब्राह्मणों के कर्म-विधान का कार्य वर्णन करते हुए वेद को मुख्यता दी है और वेदाध्ययन में गायत्री-मन्त्र पर भी विशेष बल दिया है।

वर्तमान समय के बहुत से स्त्री-पुरुष, निरंतर कई वर्षों से, लगातार सहस्त्रों की गिनती में गायत्री-मन्त्र का पाठ करते हैं, अनेक सज्जन प्रतिदिन जल में खड़े होकर गायत्री-मन्त्र का हज़ार बार जाप किया करते हैं, परन्तु उनके जीवन में कोई विशेष परिवर्तन न स्वयं उन्हें अनुभव होता है और न दूसरों को ही। हम देखते हैं कि हमारे पण्डित, पुरोहित तथा उपदेशक आदि, जो संध्या तथा गायत्री पर व्याख्यान देते तथा स्वयं भी इस मन्त्र का जाप करते हैं, लाभालाभ, मानापमान, संयोग-वियोग आदि परिस्थितियों में साधारण पुरुषों के समान आचरण करते हैं। उनकी यह दशा देख एक जिज्ञासु का हृदय भी श्रद्धा और प्रेम से आप्लावित होने के स्थान पर, सन्देह में पड़ जाता है। इन परिस्थितियों का सब से अधिक चिन्ताजनक परिणाम यह हो रहा है कि नवशिक्षित समुदाय की इस ओर से आस्था ही नष्ट हो गई है।

वे तो अब यहाँ तक कहने लगे हैं कि संस्कार, संध्या, गायत्री-मन्त्र आदि वैदिक, तथा संस्कृत श्लोकों के जाप आदि

के स्थान पर अपनी मातृभाषा में ही उपासना, प्रार्थना आदि किये जावें। परन्तु निम्नलिखित कारणों से उपर्युक्त विचार बहुत दोषपूर्ण है—

(क) गायत्री-मन्त्र को वेद का सार कहा गया है। सावित्री, माता और पतितपावनी आदि विशेषण इसके साथ, महात्मा लोगों ने तथा प्रभुभक्तों ने लगाये हैं। इन सब विशेषणों की पुष्टि गायत्री-मन्त्र अपने आप करेगा, जैसा कि आगे चलकर इसका व्याख्यान किया जावेगा। परन्तु जिज्ञासुओं में गायत्री के जाप के लिए रुचि पैदा करने के विचार से थोड़ा-सा दिग्दर्शन यहाँ भी, केवल इस बात का किया जाता है कि गायत्री-मन्त्र वेद का सार कैसे है।

इस जगत् के रचयिता ईश्वर ने वेद का ज्ञान आदि सृष्टि में किसके लिए दिया है? मनुष्यों के लिए। और क्यों दिया है? मनुष्यों के कल्याण के लिए। अर्थात् जीवों ने जो अज्ञानवश उल्टे कर्म करके अपने लिए दुःख के साधन एकत्रित कर लिये हैं, जिनको वे कई योनियों में भोगते हैं; वे जीव मनुष्य-योनि में आकर ज्ञान को प्राप्त करें, ज्ञानपूर्वक और बुद्धिपूर्वक काम करने का अभ्यास करें, दुखों से रहित होकर सुख को प्राप्त करें, सुख की उपासना करना सीखें, और निरन्तर सुख व आनन्द के अन्दर बैठ जावें। इसी को मुक्ति और नजात-प्राप्ति भी कहा गया है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वेद का विषय ज्ञान, कर्म, उपासना है। इसी का इस प्रकार भी वर्णन किया जा सकता है कि ईश्वर

सच्चित्‌आनन्द है। जीव सच्चित् है, परन्तु आनन्द जीव का स्वाभाविक गुण नहीं। यही जीव में न्यूनता है, और इसी न्यूनता को पूरा करने के लिए ही, इसके स्वाभाविक गुण, ज्ञान और प्रयत्न अर्थात् कर्म करना है। सांसारिक माता-पिता की तरह ईश्वर का लक्ष्य वेद-रूपी ज्ञान देने का यह है कि जीव-रूपी सन्तान उसके समीप आकर निरंतर आनन्द को प्राप्त करे, जो कि उसको और कहीं नहीं मिलना, या प्रकृति के संग से नहीं मिलता। और जो मिलता है, वह दुःख से मिला हुआ सुख है तथा क्षणिक भी है। इसलिए वेद का मुख्य लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति कहा और माना गया है।

अब देखना यह है कि ईश्वर किन गुणों के कारण आनंद का स्रोत है, ताकि जीव भी उन गुणों को यथाशक्ति धारण करे, और यथाशक्ति बहुत देर तक उस स्रोत में डुबकी लगाकर रहे, अर्थात् उसी का रूप होकर रहे, जिसका दूसरा नाम मुक्ति या नजात है। और यह गुण गायत्री के जाप से कैसे प्राप्त होते हैं, जिनका साधन वेद का विषय ज्ञान, कर्म, उपासना हैं।

१. ईश्वर प्रेम का स्रोत है तथा पुञ्ज है। और जहाँ निरन्तर प्रेम है, वहाँ निरन्तर सुख है।
२. ईश्वर पवित्रता का स्रोत है तथा पुञ्ज है। जहाँ निरन्तर पवित्रता है, वहाँ ही निरन्तर आनन्द है, सुख है।
३. ईश्वर सत्य स्वरूप है, और जहाँ निरन्तर सत्य है, वहाँ ही निरन्तर सुख है।

४. ईश्वर ज्ञान, बुद्धि का भंडार है, उसके सब काम ज्ञान, बुद्धिपूर्वक हैं और इसी लिए नियमपूर्वक हैं। ईश्वर में अज्ञान का लेश भी नहीं। और जहाँ ज्ञान, बुद्धि व नियमपूर्वक कर्म हों वहाँ ही निरन्तर आनंद होगा।

५. ईश्वर प्रकाशस्वरूप है। उसके सारे गुण, कर्म, स्वभाव प्रकाशयुक्त हैं। वहाँ कुछ छिपाव-लुकाव नहीं और जहाँ निरन्तर प्रकाश होगा, वहाँ ही सुख होगा। इत्यादि।

अतः अब जीव के लिए आनन्द-प्राप्ति, ईश्वर-प्राप्ति व मुक्ति-रूपी लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से यह आवश्यक हुआ कि ऊपर वर्णित ईश्वर के कुछ गुणों को वह यथाशक्ति प्राप्त करे। और यह भी सिद्ध हुआ कि इन गुणों का जीव को प्राप्त कराना वेद का लक्ष्य है और इन सब गुणों की प्राप्ति ज्ञान के बिना हो नहीं सकती। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य केवल पुस्तक ज्ञान नहीं, शब्द ज्ञान नहीं, अपितु विज्ञान भी है; क्योंकि निश्चयात्मक ज्ञान को ही शास्त्रज्ञान कहते हैं, जिसका फल कर्म और फिर विज्ञान है। शेष सब अज्ञान है, अर्थात् अल्प ज्ञान है।

ज्ञान के लिए दूसरा शब्द स्तुति हो सकता है। तात्पर्य यह कि इन गुणों को निरन्तर स्मरण करके, विचार व मनन करके और यह जानकर कि मेरी न्यूनता मेरे में इन गुणों के न होने अथवा न्यून होने के कारण है और मेरा लक्ष्य इनको अपने अन्दर लाने से सिद्ध होता है, और वे गुण अभ्यास से ही आते हैं, जिसका दूसरा नाम कर्म कहा जा सकता है।

ईश्वर के इन गुणों का स्मरण करना या स्तुति करना अथवा इन गुणों के स्रोत से इन गुणों के माँगने के लिए प्रार्थना करना, व इन गुणों के धारण करने के योग्य अपने को बनाना ही सबसे उत्तम कर्म है। फिर इसी ईश्वर-स्तुति के अभ्यास-रूपी कर्म से उपासना, अर्थात् इन गुणों का जीव के अन्दर आ जाना ही; फल-रूप प्राप्ति होती है। और यही मनुष्य का और वेद का लक्ष्य है।

गायत्री-मन्त्र में क्योंकि जीव के जानने योग्य, जिससे वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके, पहले सात शब्दों में ईश्वर की पर्याप्त स्तुति की गई है, जिनका अर्थ-सहित, जैसा कि आगे बताया जावेगा, जाप करने से अथवा ईश्वर की स्तुति करने से ईश्वर के ऊपर बतलाये गुणों का, जिनके कारण कि वह आनन्द का स्रोत है, पर्याप्त शिक्षा मिल सकती है। और, उनका ज्ञान प्राप्त करके जिज्ञासु की ज्ञानपूर्वक कर्म करने में अपने-आप प्रवृत्ति पैदा हो जाती है, जिसके फलस्वरूप विज्ञान और उपासना में सफलता होती है, यही लक्ष्य गायत्री के जाप से प्राप्त होता है। क्योंकि स्तुति के सात शब्दों के पश्चात् 'धीमहि:' का तात्पर्य ही ज्ञानपूर्वक कर्म करना है; क्योंकि किसी गुण का ध्यान करना—स्मरण करना व उस गुण को प्राप्त करने का वास्तविक अर्थ उन गुणों को अभ्यास या कर्म करके जीवन में धारण करने का है, (कर्म का तात्पर्य वेद में शुभकर्म है, शेष अकर्म हैं या विकर्म हैं, अर्थात् उल्टे कर्म या अज्ञानपूर्वक कर्म कहे गए हैं, जिनका फल दुःख

होता है)। अन्त में 'धियो यो नः प्रचोदयात्' का तात्पर्य ही ईश्वरीयबुद्धि अर्थात् प्रज्ञाबुद्धि को प्राप्त करना है, जो कि ज्ञान और कर्म से प्राप्त होती है। जिसका फल सदा आनन्द होना है। अर्थात् प्रकृति को छोड़कर ज्ञानस्वरूप बुद्धि के भण्डार ईश्वर को प्राप्त करना। यही उपासना का तात्पर्य है जो कि गायत्री के जाप का फल है। इसी लिए गायत्री को वेद का सार कहा गया है। क्योंकि (१) बुद्धि या ज्ञान की अत्यन्त शुद्धि को सत्य कहते हैं और सत्य ही ईश्वर है। (२) भावना की अत्यन्त शुद्धि को अहिंसा कहते हैं अर्थात् पूर्ण प्रेम और पूर्ण शुद्ध ही ईश्वर है। जितना-जितना जीव इन गुणों को धारण करेगा, उतना-उतना वह सुख प्राप्त करेगा। और जब वह इन गुणों का रूप हो जावेगा (जैसे लोहा अग्नि में) वही मुक्ति की अवस्था होगी, या ईश्वर-प्राप्ति की। और इस कार्य में गायत्री समर्थवान है। इसी प्रकार मन की पवित्रता के लिए भी गायत्री-मन्त्र में पर्याप्त साधन, सामग्री (ज्ञान, सत्संग, स्वाध्याय, सेवाधर्म, दुष्ट-विचारों की निवृत्ति तथा ईश्वर उपासना आदि) जीव की शिक्षा के लिए विद्यमान हैं। जिनकी व्याख्या आगे की जावेगी।

(ख) ऋषि दयानन्द ने अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक वेदों को जर्मनी से मँगा कर उनकी मान प्रतिष्ठा पुनः हिन्दू-समाज में कायम की। यह इसी कारण कि मूलवेदों को वह मनुष्य समाज की सर्वश्रेष्ठ निधि मानते थे। संस्कार, संध्या आदि वर्तमान भाषाओं में शुरू हो जाने पर मूल वेदों की महत्ता

को लोग भूल जायँगे, और इसकी सारी जिम्मेवारी आर्य-समाज पर होगी, क्योंकि वही ऋषि का प्रतिनिधि है।

(ग) दृष्टान्त रूप से हम मूल वेदों को गेहूँ और उनके विभिन्न अनुवादों को दलिया, आटा, रोटी आदि कह सकते हैं। जिस तरह गेहूँ का बीज पास होने पर हम उससे पूरी, मालपूआ, दलिया या रोटी आदि जो कुछ भी चाहें बना सकते हैं, परन्तु यदि हमने गेहूँ को पीस कर उस सबकी रोटियाँ ही बना लीं, तो हम उससे और कुछ भी नहीं बना सकेंगे। और चीजें बनाने का हम मार्ग ही बन्द कर लेंगे। ठीक इसी प्रकार वैदिक भाषा के जो मन्त्र हमारे ज्ञान के आधार हैं, उनको छोड़ हिन्दी को अपनाना गेहूँ की रोटियाँ पका कर अपने पास रख लेने के समान है।

इसी भावना को लेकर कुछ नवयुवक महात्मा गांधी जी के पास गये। परन्तु महात्मा जी ने इस प्रस्ताव का यही उत्तर दिया कि संसार में कोई भी ऐसा पुरुष नहीं जो पूर्ण रीति से वेद-मन्त्रों का व्याख्यान अपनी भाषा में कर सके, अतः इस मूल को वैसा ही रहने दो और अपनी वाणी में भी प्रार्थना करते रहो।

इस प्रवृत्ति का मूल कारण यह है कि जब कोई जिज्ञासु हमारे पास आता है, तो हम किसी शब्द को कोश में देखकर उसका अर्थ बताने के समान पुस्तकपठित अर्थ बता देते हैं। उस पर हमारा अपना कोई अनुभव नहीं होता और प्रायः हम उसको शब्दपाठ, जाप का ही उपदेश देते हैं जो कि

प्रभुभक्ति के लिए प्रथम सीढ़ी है और क, ख, ग पढ़ने के समान है। जैसे वर्षों तक पहली सीढ़ी पर ही बैठे रहने वाला पुरुष मकान के ऊपर नहीं पहुँच सकता तथा वर्षों तक क, ख, ग पढ़नेवाला विद्यार्थी कभी ज्ञानी नहीं बन सकता, और अपना लक्ष्य प्राप्त न होने से उसे कोई आनन्द नहीं अनुभव हो सकता, वैसे ही शब्दमात्र के जाप से कोई वास्तविक लाभ नहीं होता।

उचित यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मानव-जीवन से वास्तविक लाभ उठाने के लिए किसी एक मन्त्र को तो सजीव बना ही ले। जैसे एक माली भूमि खोदकर उसमें विविध भाँति के पौधे तो लगा दे, किन्तु वह किसी एक पौधे को भी इस योग्य नहीं बनाए कि उसके द्वारा उसका निर्वाह चल सके अथवा उसकी अपनी उदरपूर्ति हो सके, तो उसका सारा परिश्रम अपने लिए निष्फल हो जायगा और अन्त में पश्चात्ताप के सिवाय कुछ भी उसके हाथ नहीं लगेगा। ठीक इसी प्रकार चारों वेदों का पण्डित होने पर भी तथा विविध शास्त्र कण्ठस्थ कर लेने पर भी यदि एक विद्वान् किसी एक मंत्र को भी सिद्ध न करे तो उसे अपनी विद्वत्ता से कोई आनन्द प्राप्त नहीं हो सकेगा। शब्द की खेती ने कभी किसी को फल नहीं दिया। व्याकरण का ज्ञाता यदि उसका उपयोग नहीं करता, तो वह केवल भार-रूप ही है, उससे लाभ कोई नहीं। हजारों बुझे हुए दीपक एक बुझे हुए दीपक को जलाने में समर्थ नहीं हो सकते, परन्तु एक प्रकाशित दीपक

हज़ारों दीपों को जला सकता है; इसी प्रकार जो व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) एक मंत्र का भी साक्षात्कार कर लेता है वह जहाँ अपने आप उन्नत एवं विज्ञानशील बनता है, वहाँ दूसरों को भी प्रकाशमान कर उनका कल्याण कर सकता है। वेद में ठीक कहा है—"अग्निना अग्निः समिध्यते"। इसी प्रकार यदि हम लोग इस परमपावन मंत्र को सजीव (साक्षात्) कर लें तो हमारा तथा हमारी जाति का कल्याण हो सकता है और क्रमशः संसार में वह अवस्था आ सकती है, जिसके लिए भारतवर्ष तथा अन्य देश लालायित हैं। 'अग्नि' शब्द हमने काग़ज़ पर लिख दिया, उसके अर्थ भी हमें मालूम हैं; किन्तु यह लिखा हुआ अथवा उच्चारण किया हुआ 'अग्नि' शब्द न तो काग़ज़ को जलाने में समर्थ है और न वह हमारे मुँह को, जिससे हम 'अग्नि' शब्द उच्चारण करते हैं, गरमी पहुँचा सकता है। अग्नि का नाम लेना सरल है परन्तु नाममात्र से सरदी दूर नहीं होती, तथा उष्णता नहीं आती, रोटी नहीं पकती और न प्रकाश ही हो सकता है। परन्तु उस अग्नि को, जो कि दियासलाई में प्रच्छन्न है, रगड़ने तथा अनुकूल साधन, अर्थात् शुष्ककाष्ठ आदि उपस्थित होने पर ही अग्नि जलेगी, जिससे प्रकाश होगा और जिससे भोजन पका कर हम अपनी क्षुधा निवृत्त कर सकेंगे। इसी प्रकार किसी मंत्र के वास्तविक अर्थ को जान कर, निरन्तर स्मरण द्वारा उसको कभी न भूलनेवाला बनाकर (अर्थात् उसके अर्थ की भावना को अपने लिए सदा सजीव बनाकर) और उसके

भाव को आचरण में चरितार्थ कर ही हम लाभान्वित हो सकते हैं; और यही किसी मंत्र का सच्चा जाप है।

जैसे शरीर में जीवात्मा के होने से ही शरीर की शोभा है और जीव के कारण ही शरीर की स्थिति है अन्यथा शरीर में रंग, रूप, रस, आकर्षण, प्रेम तथा पवित्रता आदि कोई भी गुण नहीं रह सकता, ऐसे ही शब्द और अक्षर तो शरीर के समान हैं और अर्थ उनकी आत्मा के समान है। अर्थ क बिना अक्षर या शब्द से कोई लाभ नहीं, कोई शोभा नहीं। केवल शब्द से आत्मिक तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिए इस गायत्री-मन्त्र को सजीव करना एक जिज्ञासु का परम कर्तव्य है अर्थात् अर्थसहित, निरन्तर, नियत समय पर तथा श्रद्धा से इसका जाप करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है—जैसे एक शरीर के अन्दर आत्मा तो विद्यमान है, शरीर जिन्दा है, साँस लेता है, परन्तु वह जागता नहीं, हर समय सोया रहता है, अथवा वह आलसी है या निःशक्त है। ऐसा जीवन मरे हुए के समान ही है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति अपने जीवन को पराश्रित बना उससे कोई लाभ नहीं उठा सकता। इसी प्रकार मन्त्र के अर्थ जानकर या इसके अर्थ को स्मरण करके हमें अपने को उपर्युक्त मनुष्य की भाँति केवल जिन्दा नहीं करना, अपितु उस ज्वाला को निरन्तर प्रज्वलित करना है, जैसे एक माता भोजन बनाते समय निरन्तर ध्यानपूर्वक 'अग्नि को एक रस जलाये रखती है और तब तक निरन्तर

जलाये रहती है जब तक कि भोजन को पूर्ण ताप पहुँचा कर वह उसे परिपक्व अवस्था में न ले आए। इसी प्रकार इस मन्त्र को भी सजीव करना ही लाभप्रद है। एक अँगरेज़ लेखक ने कहा है—

"To reach the port of heaven yous hould sail, not drift or lie at anchor."

अर्थात्, "स्वर्गरूपी बन्दरगाह तक पहुँचने के लिए तुम्हें किसी किश्ती या जहाज़ का सफ़र करना चाहिए, किनारे पर खड़े रहने या समुद्र में इधर-उधर भटकने से काम नहीं चलेगा।"

[२]

गायत्री-जाप-विधि

गायत्री-मन्त्र के शुद्ध-पाठ का अभ्यास कर, उसका शब्दार्थ समझ लेने के पश्चात् उसके भाव को हृदयंगम करते हुए उसका जाप करना चाहिए। इस मन्त्र में ईश्वर की स्तुति के लिए जो शब्द आये हैं, उनको बार-बार तथा निरन्तर एकान्त में बैठकर अनुभव करना चाहिए अर्थात् एक-एक शब्द को लेकर, परमात्मा के जो गुण उसमें बताए गए हैं, उनकी वास्तविक रूप से अनुभूति करनी चाहिए। उनके सम्बन्ध में जब तक निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न न हो, तब तक स्वयं अपने मन से उन सन्देहों का उत्तर माँगने का प्रयत्न करना चाहिए, और यदि स्वयं सन्देह निवारण न हो सके तो अन्य किसी साधु, ज्ञानी या महात्मा से निराकरण करना चाहिए। संशय के रहते हुए उन गुणों से किसी प्रकार का प्रेम न हो

सकेगा। साधन के लिए इन गुणों का चिन्तन उस सीमा तक नितान्त आवश्यक है, जब तक उसको यह प्रतीत न हो कि मन्त्र में वर्णित परमात्मा के गुण उसमें आने लग गये हैं। इन गुणों के आने पर आत्मा स्वयं अनुभव करने लगता है तथा अन्य व्यक्ति भी इस तरह के साधक की प्रत्येक बात में स्पष्ट परिवर्तन देखते हैं। जैसे रेल के एंजिन में जब तक २१२ डिग्री की स्ट्रीम (भाप) पैदा न हो जाये, तब तक उसमें गति नहीं आती और इस शक्ति को पैदा करने के लिए उसके योग्य सामग्री उसे बराबर देते चले जाते हैं। और जब एंजिन की शक्ति उक्त सीमा तक पहुँच जाती है तब ड्राइवर तो उसे देख ही लेता है, साथ ही बाहर के लोग भी, उसकी गति को देखकर उसके शक्ति-संचार का अनुभव करने लगते हैं। इसी प्रकार साधक पुरुष को उस सीमा तक लगातार जाप करना उचित है, जब तक वह अपने में कोई विशेष शक्ति आई हुई न देखे। एक बार अपने में किसी विशेष शक्ति और परिवर्तन का अनुभव होने पर साधक में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, और उसके बाद वह लगातार अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करता रहता है।

लोग समझते हैं कि इस कार्य में बहुत देरी लगती है और यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है। परन्तु नीचे लिखे उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह कार्य कोई बहुत कठिन तथा बहुत अधिक समय लेनेवाला नहीं है। जैसे चार-पाँच बरस का एक बालक अपनी अनपढ़ माता को बार-बार

"आग", "पानी" आदि कहते और इन शब्दों का प्रयोग करते सुनकर स्वयं समझ जाता है कि अग्नि और जल क्या चीजें हैं। इन दोनों शब्दों के अर्थों की वह निश्चयात्मक अनुभूति कर लेता है। अब यदि आप उसके सामने गलती से भी 'अग्नि' शब्द का उच्चारण कर दें, तो वह दूसरी वस्तु की ओर इशारा नहीं करेगा, वह उससे "आग" ही समझेगा। वह यह भी जान जाता है कि आग से प्रकाश और ताप आदि मिलते हैं तथा पानी से शीतलता, प्यास बुझना, तरलता आदि प्राप्त होते हैं। यद्यपि अभी तक उसको तथा उसकी अनपढ़ माता को अग्नि आदि शब्द के अक्षरों तथा उनके यौगिक अर्थों का ज्ञान नहीं। 'अग्नि' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ 'ईश्वर' भी है, यह अर्थ न उस बच्चे की माता को पता है और न वह स्वयं उसे जानता है। सम्भव है कि उसकी माता तथा स्वयं उसने भी, कभी किसी सत्संग में 'अग्नि' का यह आध्यात्मिक अर्थ सुना हो, परन्तु उसकी माता ने इस अर्थ का अनुभव करने के लिए अभ्यास नहीं किया। इसलिए 'अग्नि' शब्द सुनकर उसे कभी 'परमात्मा' का ध्यान नहीं आएगा, सिर्फ़ 'आग' का ही ध्यान आएगा।

तो क्या गायत्री में ईशस्तुति के लिए आये हुए 'भूः' आदि आठ शब्दों का साक्षात्कार कोई अत्यन्त कठिन कार्य है? खास तौर से जब कि हम सतत प्रयत्नपूर्वक अध्ययनशील रहे हों, हमारा दृष्टिकोण तार्किक या बौद्धिक रहा हो, और

युनिवर्सिटियों की बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ पास कर चुके हों। इन परिस्थितियों में एक अध्ययनशील साधक विचार कर सकता है कि इन आठ शब्दों के साक्षात्कार में उसे कितना समय लगेगा। इसलिए जिज्ञासु को इन आठ शब्दों के अर्थों की ऐसी अनुभूति कर लेनी चाहिए, जैसे सुगन्धि आते ही फूल का ध्यान आ जाता है, या किसी अपने मित्र का नाम लेते ही उसका स्मरण हो आता है। गायत्री-जाप की यही विधि हमारे पूर्वज बरता करते थे और यही साधन इन अमृत-भरे शब्दों को सजीव करने का है।

[३]

"ओ३म्" नाम की महिमा

गायत्री-मन्त्र का पहला शब्द 'ओ३म्' है, जो ईश्वर का सब से मुख्य और सबसे महत्त्वपूर्ण नाम है। शेष सब नाम—ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि—गौण हैं, अर्थात् किसी सम्बन्ध या गुण से रखे गये हैं; जैसे, शिव से कल्याण करनेवाला, विष्णु से व्यापक तथा ब्रह्म से महान्। 'ओ३म्' की महिमा का वर्णन वेद, शास्त्र तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थों में जगह-जगह पर आया है। यह शब्द अ-उ-म् इन तीन अक्षरों से मिलकर बनता है। ऋषि दयानन्द ने 'ओ३म्' के अर्थ इस प्रकार किये हैं—अ—से विराट्, अग्नि तथा विश्व आदि; उ—से हिरण्यगर्भ, वायु तथा तेज आदि; म्—से ईश्वर, आदित्य तथा प्राज्ञ आदि। यदि इन शब्दों की व्याख्या का विस्तार किया जाय, तो परमेश्वर कोई भी 'वाचक' शब्द बाकी नहीं रह जायगा। जैसे, एक रुपये की दो अठन्नियाँ, चार चव-

न्नियाँ, आठ दुअन्नियाँ, सोलह आने, बत्तीस टके तथा चौंसठ पैसे आदि होते हैं और व्यवहार में वे सब रुपया या उसके भाग के स्थान पर चलते हैं, कोई उनके लेन-देन से इनकार नहीं करता, उसी तरह 'ओ३म्' के अतिरिक्त जितने भी शब्द हैं, वे सब इसी एक शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं; क्योंकि सारे गुणों का समावेश इसी के अन्दर हो जाता है।

यहाँ शंका की जा सकती है कि अकार के विराट् आदि अर्थ उकार आदि से ही क्यों न लिये जायें? तथा ओम् शब्द के अन्दर सारी सृष्टि कैसे आ जाती है? इसका विस्तार से व्याख्यान तो माण्डूक्य उपनिषद् में दिया गया है। बुद्धिमान् जिज्ञासु वहाँ से पढ़ सकते हैं। परन्तु संक्षिप्त व्याख्यान यहाँ भी किया जाता है।

'ओम्' शब्द का वह स्थूल अर्थ, जिसे एक साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है तथा प्रतिक्षण स्मरण भी रख सकता है, इस प्रकार है—'अ' से सृष्टि की उत्पत्ति, 'उ' से स्थिति (विस्तार) और 'म्' से प्रलय अर्थ अभिप्रेत हैं। इस अर्थ का भास 'ओम्' शब्द के उच्चारणमात्र से हो सकता है, जैसे 'अ' के कहने से मुँह खुल जाता है, 'उ' से उसका विस्तार हो जाता है तथा 'म्' से बन्द होजाता है। अर्थात् ओम् शब्द "जन्माद्यस्यत:" इस वेदान्त सूत्र का द्योतक है। यह शब्द उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाले पदार्थ का नाम स्वयं भासित कर रहा है। अन्य कोई भी परमेश्वर का नाम इस प्रकार का नहीं, जो इन तीन गुणों को एक साथ प्रकट करता

हो। इसको आप निम्न चित्रमान से ठीक समझेंगे। यह चित्रमान माण्डूक्य उपनिषद् के आधार पर बनाया गया है—

अक्षर	जगत की	अक्षर उच्चारण	शरीरावस्था	ब्रह्मांड की अवस्था	लोक	लोक देवता	सृष्टि की अवस्था स्थूल	सूक्ष्म	कारण
अ	उत्पत्ति	मुँह का खुलना	जागृत	स्थूल	पृथिवी	अग्नि	विराट्	अग्नि	विश्व
उ	विस्तार स्थिति	विस्तार	स्वप्न	सूक्ष्म	अन्तरिक्ष	वायु	हिरण्यगर्भ	वायु	तेज
म्	प्रलय	सुषुप्ति	सुषुप्ति	कारण	द्युलोक	आदित्य	ईश्वर	आदित्य	प्राज्ञ

इन उपर्युक्त अवस्थाओं को लानेवाला, इन सब शक्तियों तथा तीनों लोकों का नियन्ता और मालिक होने से विराट् आदि अर्थ अ, उ, म् से लिये गये हैं। ये अर्थ बुद्धिपूर्वक और युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं और इसी आधार पर ऋषि दयानन्द ने ये अर्थ सत्यार्थप्रकाश में लिखे हैं। ओम् शब्द का धात्वर्थ इस प्रकार है—

अ—अप्लृ व्याप्तौ, आदि और आप्ति। अर्थात् स्थूल सृष्टि का प्रकाश तथा आरम्भ, जिसमें सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, औषधि, चर-अचर, प्राणी-अप्राणी आदि सम्पूर्ण दृष्टिगोचर जगत् का प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् विश्व की सम्पूर्ण शैशवावस्था का अभिप्राय इस शब्द से है।

उ—उत्कर्ष या उभय का आदि 'उ' स्वर है, जिसके

न्नियाँ, आठ दुअन्नियाँ, सोलह आने, बत्तीस टके तथा चौंसठ पैसे आदि होते हैं और व्यवहार में वे सब रुपया या उसके भाग के स्थान पर चलते हैं, कोई उनके लेन-देन से इनकार नहीं करता, उसी तरह 'ओ३म्' के अतिरिक्त जितने भी शब्द हैं, वे सब इसी एक शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं; क्योंकि सारे गुणों का समावेश इसी के अन्दर हो जाता है।

यहाँ शंका की जा सकती है कि अकार के विराट् आदि अर्थ उकार आदि से ही क्यों न लिये जायें? तथा ओम् शब्द के अन्दर सारी सृष्टि कैसे आ जाती है? इसका विस्तार से व्याख्यान तो माण्डूक्य उपनिषद् में दिया गया है। बुद्धिमान् जिज्ञासु वहाँ से पढ़ सकते हैं। परन्तु संक्षिप्त व्याख्यान यहाँ भी किया जाता है।

'ओम्' शब्द का वह स्थूल अर्थ, जिसे एक साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है तथा प्रतिक्षण स्मरण भी रख सकता है, इस प्रकार है—'अ' से सृष्टि की उत्पत्ति, 'उ' से स्थिति (विस्तार) और 'म्' से प्रलय अर्थ अभिप्रेत हैं। इस अर्थ का भास 'ओम्' शब्द के उच्चारणमात्र से हो सकता है, जैसे 'अ' के कहने से मुँह खुल जाता है, 'उ' से उसका विस्तार हो जाता है तथा 'म्' से बन्द होजाता है। अर्थात् ओम् शब्द "जन्माद्यस्यतः" इस वेदान्त सूत्र का द्योतक है। यह शब्द उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाले पदार्थ का नाम स्वयं भासित कर रहा है। अन्य कोई भी परमेश्वर का नाम इस प्रकार का नहीं, जो इन तीन गुणों को एक साथ प्रकट करता

हो। इसको आप निम्न चित्रमान से ठीक समझेंगे। यह चित्रमान माण्डूक्य उपनिषद् के आधार पर बनाया गया है—

अक्षर	जगत की	अक्षर उच्चारण	शरीरावस्था	ब्रह्मांड की अवस्था	लोक	लोक देवता	सृष्टि की अवस्था स्थूल	सूक्ष्म	कारण
अ	उत्पत्ति	मुँह का खुलना	जागृत	स्थूल	पृथिवी	अग्नि	विराट्	अग्नि	विश्व
उ	विस्तार स्थिति	विस्तार	स्वप्न	सूक्ष्म	अन्तरिक्ष	वायु	हिरण्यगर्भ	वायु	तेज
म्	प्रलय	सुषुप्ति	सुषुप्ति	कारण	द्युलोक	आदित्य	ईश्वर	आदित्य	प्राज्ञ

इन उपर्युक्त अवस्थाओं को लानेवाला, इन सब शक्तियों तथा तीनों लोकों का नियन्ता और मालिक होने से विराट् आदि अर्थ अ, उ, म् से लिये गये हैं। ये अर्थ बुद्धिपूर्वक और युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं और इसी आधार पर ऋषि दयानन्द ने ये अर्थ सत्यार्थप्रकाश में लिखे हैं। ओम् शब्द का धात्वर्थ इस प्रकार है—

अ—अप्लृ व्याप्तौ, आदि और आप्ति। अर्थात् स्थूल सृष्टि का प्रकाश तथा आरम्भ, जिसमें सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, औषधि, चर-अचर, प्राणी-अप्राणी आदि सम्पूर्ण दृष्टिगोचर जगत् का प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् विश्व की सम्पूर्ण शैशवावस्था का अभिप्राय इस शब्द से है।

उ—उत्कर्ष या उभय का आदि 'उ' स्वर है, जिसके अर्थ

बढ़ना, ऊपर की ओर खींचना, निकलना तथा वृद्धि हैं। जिसका अभिप्राय युवावस्था से है।

म्—मा धातु म् हल् रूप है। जिसका अर्थ ज्ञान तथा लय करना है। इसी को सुषुप्ति, आनन्द की अवस्था, सृष्टि की कारणावस्था, शरीर का बुढ़ापा अथवा मृत्यु अवस्था भी कह सकते हैं। अभिप्राय समाप्ति से है।

पातञ्जलि ऋषि ने अव् रक्षण इत्यादि अर्थक धातु से "अवतीति ओम्" आदि २२ अर्थ किये हैं। यदि उन अर्थों के धातु बनाये जायँ और तब उनके अर्थ किये जायँ और इसी प्रकार यह क्रम जारी रक्खा जाय, तो परमात्मा का कोई भी नाम इस नाम के बाहर नहीं रह जायगा। इस प्रकार भारतीय आर्य-साहित्य में यह ओम् नाम सर्वतोत्कृष्ट गिना गया है। अतः इसका जाप करना मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है।

नीचे लिखे उदाहरणों से 'ओ३म्' नाम के जाप की महत्ता सिद्ध हो जायगी—

१. यजुर्वेद ४०वें अध्याय में—"ओम् क्रतोस्मर" मन्त्र में ओ३म् के जाप का ही विधान है।

२. कठ उपनिषद् में कहा गया है—"सर्वे वेदाः यत्पद-मामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्म-चर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" ॥

अर्थात्, "जिस शब्द की महिमा सारे वेद गाते हैं, तपस्वी जिसका बखान करते हैं और ब्रह्मचारी जिसके लिए घोर तपश्चर्या करते हैं, वह शब्द केवल "ओम्" ही है।"

उपनिषदों में उद्गीथ (जो गाया जाय) अक्षर, प्रणव तथा ब्रह्म भी इसी ओम् शब्द को कहा गया है।

३. स्वामी रामतीर्थ ने एक जगह कहा है—

"विज्ञान पर धिक्कार है, यदि वह पवित्र शब्द 'ओम्' के प्रभाव-सम्बन्धी सत्य के विरुद्ध जाता है।" *

एक और जगह उन्होंने कहा है—

"वह सुखी है जो कि ओम् में निवास करता है, ओम् में गति करता है और 'ओम्' में ही अपनी सत्ता रखता है। यदि मनुष्य चाहे कि यह ख़ज़ाना (कोश) मेरे पास आ जावे या स्वर्ग का राज्य मेरे लिए खुल जावे तो इस 'ओ३म्'-रूपी चाबी से उसे स्वर्ग के ताले को खोलना चाहिए।" †

४. गुरु नानकदेव का कथन है—

"एक ओंकार, सत् नाम, कर्ता पुरुष, निर्भो (निर्भय), निर्वैर, अकाल मूर्त, अयोनि से भंग, गुरपरसाद जप, आद सच, जुगाद सच, है भी सच, नानक होसी भी सच ॥"

अर्थात् "वह परमेश्वर जिसका सत् नाम ओंकार है अथवा ओंकार ही सत् नाम ईश्वर का है। वह सृष्टिकर्ता तीनों कालों

---

* "Woe unto science, if it goes against the truth connected with the efficacy of the sacred Syllable Aum."

—*Heart of Ram*

† "Happy is he, who lives, moves and has his being in Aum. In order to come by these treasures within, or in order that the Kingdom of Heaven, may be unlocked, this is the key to be used." —*Heart of Ram*

अर्थात् भूत-भविष्यत्-वर्तमान में है। अपने आप होनेवाला, भयरहित, और वैररहित—जो अजन्मा और अमर है, उसी का जाप गुरुकृपा से करो। वह परमात्मा आदि में सत् था, युगों के आदि में सत् था, वर्तमान में सत् है और भविष्य में होगा भी सत् ही।"

इसी प्रकार—"ओंकार शब्द उधरे ओंकार गुरुमुखतरे, ओम् अक्षर सुनो विचार, ओम् अक्षर त्रिभुवनसार"।

ओम् नामवाले ईश्वर ने शब्द का उद्धार किया अर्थात् वेद प्रकट किये। ओंकार नामवाले ईश्वर ने गुरुमुख अर्थात् ऋषि लोगों को तार दिया (मुक्त कर दिया) ओम् अक्षर सुनो और उसी का विचार करो, वह ओम् नाशरहित और तीनों लोकों का सार है।

(५) ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में लिखा है—

क. " 'ओम्' इस परमात्मा के नाम का अर्थ विचार कर नित्य प्रति जप किया करें। अपनी आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवें।" —स० प्र० सप्तम समुल्लास

ख. "यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है।"

—स० प्र० प्रथम समुल्लास

ग. "ओ३म् जिसका नाम है, और जो कभी नष्ट नहीं होता उसकी उपासना करनी योग्य है। सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम ओ३म् को कहा है।"

—स० प्र० सप्तम समुल्लास

घ. "जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता-पुत्र के

सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़कर दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं; उन में से ओंकार सबसे उत्तम नाम है। इसी नाम का जाप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिये।"

—ऋ० भा० भूमिका

ङ. "जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं, वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं। उनमें प्रत्येक गुण, कर्म और स्वभाव का एक नाम है।"

—स० प्र० प्रथम समुल्लास

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि आदि समय से इसी ओम् का जाप हुआ करता था, अन्य किसी भी शब्द का नहीं। इससे यह भी सिद्ध होता है भारतीय आर्य विद्वानों में अभी तक इसी नाम की प्रतिष्ठा जारी है। अतः मनुष्यमात्र को 'ओम्' का ही जाप करना चाहिए।

(६) भारतवर्ष के हिन्दू-मात्र के जातीय लाभ की दृष्टि से भी एक 'ओम्' नाम का जाप होना ही आवश्यक है, क्योंकि अलग-अलग जाप होने से जाति में भेदभाव पैदा होता है और जब से हमने अलग-अलग जापों का आरम्भ किया, तभी से हमारी जाति में एकता का अभाव हो गया। अतः इस दृष्टिकोण से भी परमात्मा का यही एक नाम अपनाना आवश्यक है।

[४]

ईश्वरसिद्धि

ऊपरलिखित सारी बातें आस्तिकों के लिए ही हैं, परन्तु जो लोग ईश्वर को नहीं मानते, अथवा ईश्वर को मानने के सम्बन्ध में जिनके मन में संशय है, या सृष्टि की रचना पालन-पोषण तथा प्रलय करनेवाले परमात्मा के विषय में कोई संशय हैं, उनके लिए संक्षेप से कुछ बातें यहाँ लिखी जाती हैं—

(१) जैसे मैं (आत्मा) शरीर में व्यापक हूँ, वैसे ही वह ईश्वर सब में व्यापक है, परन्तु इस शरीर में व्यापक होते हुए और सब चेष्टायें देखते हुए भी मैं, (आत्मा) इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जाता, परन्तु ज्ञान-चक्षु से मेरी सत्ता का अनुभव होता है, वैसे ही परमात्मा भी इन चर्म-चक्षुओं से नहीं दिखाई देता। यद्यपि वह सम्पूर्ण संसार में व्यापक है वही सारे संसार को गति दे रहा है, और वह ही संसार की

उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करता है। उसे ज्ञानचक्षु से ही अनुभव किया जा सकता है। यदि मेरे अपने होने में किसी को कोई संशय नहीं तो उस ईश्वर के होने में संशय क्यों होना चाहिए?

(२) जैसे मैं (आत्मा) अपनी इच्छामात्र से शरीर के प्रत्येक अंग को गति देता हूँ। मुझे एक अंग से हटकर दूसरे अंग में जाने की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही वह ब्रह्म सारे संसार में व्यापक होते हुए अपनी इच्छामात्र से सारे संसार को गति देता है, क्योंकि यह जगत् उसका शरीर है। इसी बात को ईशोपनिषद् में भी स्पष्ट किया गया है—

"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वास्य बाह्यतः॥"

वह संसार को चलाता है, अतः प्रतीत होता है कि वह चलता है, पर वह चलता नहीं; क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है। वह अज्ञानियों से दूर है और ज्ञानियों के समीप है। वह इस संसार के भीतर और बाहर दोनों ही स्थलों पर है; क्योंकि यह संसार ही उसके अन्दर है।

(३) जब मेरी (आत्मा की) इच्छा होती है तब बोलता हूँ। जब तक यह इच्छा बनी रहती है, मैं बोलता रहता हूँ और जब मेरी इच्छा बन्द हो जाती है, तब मेरा बोलना भी बन्द हो जाता है। परन्तु मेरा बोलना रुक जाने पर भी मेरे बोलने की शक्ति नहीं रुक जाती। जब चाहूँ तब मैं बोल

सकता हूँ। वैसे ही ईश्वर अपनी इच्छामात्र से सृष्टि पैदा करता है, उसकी इच्छामात्र से सृष्टि उत्पन्न होती है, जब तक उसकी इच्छा सृष्टि चलाने की रहती है, तब तक सृष्टि की स्थिति रहती है और जब उसकी इच्छा बन्द हो जाती है, तब प्रलय हो जाती है और सृष्टि अपने तत्त्वों में विलीन हो जाती है। मनुष्य के बोलने की प्रसुप्त शक्ति के समान परमात्मा की सृष्टि रचने आदि की शक्ति बन्द नहीं होती। परन्तु परमात्मा का कार्य आत्मा के कार्य से भिन्न है, अर्थात् वह नियम-बद्ध है, अतः उसके सृष्टि, स्थिति और प्रलय काल नियत हैं। उनमें किसी प्रकार का अनियम नहीं। इसी कारण मनु महाराज ने कहा है कि जितने नियत समय तक सृष्टि रहती है उसे ब्रह्मा का एक दिन कहा गया है और उतने ही प्रलयकाल को ब्रह्मा की रात्रि कहते हैं।

जैसे इंजिनीयर के मस्तिष्क में पुल, गृह तथा जो कुछ बनाना हो, उसका नक़शा बसा हुआ होता है और उसी के अनुसार किसी काग़ज़ पर नक़शा बनाया जाता है तथा उसी नक़शे के अनुसार स्थूल गृह आदि का निर्माण हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य, पशु, अचेतन आदि जातिभेद से सबकी आकृति या नक़शा उस परमात्मा के ज्ञान में स्वभाव से बना रहता है। जब उसकी सृष्टि-रचना की इच्छा होती है, तो वह वैसी ही रचना को प्रकट कर देता है। इसमें उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। इस रचना के क्रम को प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष भली भाँति समझ सकता है। जिज्ञासु पुरुष

को प्रतिदिन एकान्त में बैठकर उपरिलिखित बातों का तथा नीचे दिये उदाहरणों का भली प्रकार मनन करना चाहिए। क्योंकि निरन्तर सृष्टि-रचयिता की जगन्निर्माणशैली का मनन करने से जिज्ञासु को यह निश्चय हो जायगा कि बिना कर्ता के कोई कार्य नहीं होता। इससे उसकी संशयात्मक बुद्धि दूर हो श्रद्धा उत्पन्न होगी।

जो लोग प्रकृति को ही सृष्टि का रचनेवाला मानते हैं, अर्थात् जिनका विश्वास है कि यह सब-कुछ प्रकृति का ही स्वभाव है और इसके सिवा कोई भी निर्माता नहीं, उनके विचार के लिए कुछ सामग्री नीचे दी जाती है—

(१) हर एक वस्तु का कोई-न-कोई प्रयोजन होता है। प्रत्येक वस्तु के अन्दर आकर्षण तथा अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध पाया जाता है। यह सारा कार्य बुद्धिपूर्वक एवं नियमबद्ध है। ये बातें जड़ वस्तु में दिखाई नहीं देतीं; जहाँ ज्ञान होगा, चेतनता होगी, वहाँ ही ये बातें दृष्टिगोचर होती हैं।

(२) जिस प्रकार रंग, काग़ज़, ब्रश आदि साधन विद्यमान होते हुए भी चित्रकार के बिना स्वयं चित्र नहीं बन सकता और न ये वस्तुएँ किसी को चित्र का या चित्र बनानेवाले का ज्ञान दे सकती हैं, प्रत्युत चित्र बनाने अथवा चित्र-विद्या सिखाने के लिए एक प्राणधारी जीवित बुद्धिमान् पुरुष की आवश्यकता है और उसी के ज्ञान का यह परिणाम होता है कि चित्र बन जाता है। इसी प्रकार यह सारा संसार भी किसी

बुद्धिमान् अनन्त ज्ञानवाले ज्ञाता का बनाया हुआ चित्र है। क्योंकि मनुष्य की तो इतनी भी शक्ति नहीं कि वह टुकड़े-टुकड़े हो गए एक पत्ते को पुनः वृक्ष पर लगा सके, या अपनी फूटी हुई आँख का ही पुनः निर्माण कर ले।

(३) एंजिन का नक़शा पहले एक चेतन व्यक्ति के दिमाग़ में आता है, उसे बनानेवाला भी कोई चेतन पुरुष ही है तथा चलानेवाला भी कोई पुरुष ही है, वह उसे धीरे या तेज़ चला सकता है और ठहरा भी सकता है। अपनी इच्छा-नुसार वह एंजिन को आगे या पीछे भी चला सकता है। परन्तु यह सारी क्रिया चेतन पुरुष की है, एंजिन की अपनी नहीं है। इसी प्रकार चिउँटी से लेकर हाथी तक जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें यह बुद्धिपूर्वक क्रिया पाई जाती है। परन्तु जड़ प्रकृति की विशाल वस्तुओं में इस बुद्धि का अभाव है, क्योंकि वे ज्ञान-शून्य तथा चेतना रहित हैं।

(४) मनुष्यों का अपानवायु (कार्बन गैस) वृक्षों का प्राणवायु है और वृक्षों का अपानवायु हमारे लिए प्राणवायु (अम्लजन गैस) है, जो हमारे जीवन का कारण है। यदि हमारे अपानवायु को कोई खानेवाला न होता तो वायु के गन्दा होने से हम सबकी मृत्यु हो जाती और यदि वन-स्पतियों के अपान वायु को कोई लेनेवाला न होता, तो भी वायु के गन्दा होने से सारी वनस्पतियाँ सड़ जातीं। इस प्रकार आपस के एक-दूसरे से सम्बन्ध तथा जीवन के आधार का नियामक कोई चेतन सत्ता है।

(५) मनुष्य की प्रत्येक इन्द्रिय, पञ्चभूतों अर्थात् अग्नि, वायु, तेज, पृथिवी और आकाश से बनी है। जब ये सारी शक्तियाँ प्रत्येक इन्द्रिय में वर्तमान हैं, तो आँख सूँघती क्यों नहीं, कान देखता क्यों नहीं? इत्यादि। परन्तु आँख ही देखती है, कान ही सुनता है, जिह्वा से ही रस लिया जाता है, इस नियम का नियामक यदि चेतन नहीं तो और कौन हो सकता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि यह प्रकृति का कार्य नहीं, अपितु इस नियम का बाँधनेवाला कोई और ही है। इसी प्रकार पञ्चभूतों से बने हुए वृक्ष के पत्ते, टहनियाँ तथा बीज आदि में कहीं पर भी सुगंधि नहीं आती, परन्तु फूल में सुगन्ध प्रकट हो जाती है। अतः मानना पड़ेगा कि इस नियम का विशेषज्ञ कोई चेतन है और वही ईश्वर है।

(६) आकाश में उड़ते हुए पतङ्ग या वायुयान को देखकर यह कभी अनुमान नहीं होता कि वे अपने आप बन गये और अपने आप उड़ रहे हैं। पतङ्ग के पीछे डोर है, डोर का पकड़नेवाला है, जो उसे गिरने नहीं देता। वायुयान का रचनेवाला है, उसे चलानेवाला चाहे जिधर ले जा सकता है। इन बातों को देखकर पता लगता है कि इनका उड़ना आदि कार्य किसी चेतनशक्ति के सहारे है। यदि वह शक्ति न हो ये क्षण-भर भी आकाश में नहीं ठहर सकें। इसी प्रकार यह हमारी पृथिवी, जोकि बड़े ग्रहों की तुलना में बहुत ही छोटी है, इस पर भी दो अरब जीवित मनुष्य वास करते हैं, पशु-पक्षियों की तो गणना ही कोई नहीं। मनुष्य की बनाई

हुई ६० मील गतिवाली ट्रेन से ६०० गुणा अधिक तेज़ चाल से यह पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है और नियमपूर्वक ३६५ दिन में एक क्षण का भी भेद न करते हुए अपना कार्य समाप्त करती है। इसे गति देने या घुमाने के लिये कोई डोर या रस्सी भी नहीं है। रेलगाड़ी आदि की भाँति कभी टक्कर भी लगती नहीं देखी गई। यद्यपि पृथिवी के बोझ का अन्दाज़ा १६ हज़ार संख मन लगाया गया है और सूर्य का परिमाण पृथिवी से ६६ लाख गुणा अधिक है। तो बताइये इसके पीछे गति या सहारा देनेवाला कोई है या नहीं ? वह कितना शक्तिशाली, बुद्धिमान् और ज्ञानी होगा, यह भली-भाँति विचार करने योग्य बात है।

(७) परीक्षणशाला में हाइड्रोजन गैस तथा ऑक्सीजन गैस को मिला कर पानी बनाया जाता है और फिर उस पानी को उन्हीं दोनों गैसों में परिवर्तित कर दिया जाता है। परन्तु इन दोनों गैसों, जल तथा मैशीन आदि साधनों की सत्ता में भी किसी चेतन शक्ति के बिना, न पानी बन सकता है और न पुनः वह पानी गैसों में बदल सकता है। इसी प्रकार जब हम देख रहे हैं कि अनन्त जल समुद्रों में भरा पड़ा है, वही जल वाष्प में परिणत होकर सूर्यरूपी मैशीन से बादल बनता हुआ दृष्टिगोचर होता है और पुनः जल होकर पृथिवी पर बरस जाता है। तो यह सूर्यरूपी मैशीन का काम नहीं, क्योंकि सूर्य जड़ है और जड़ को गति देनेवाली शक्ति चेतन ही होती है। इसलिए यह दृष्टान्त भी

सिद्ध करता है कि इस सबके पीछे कोई अनन्त शक्ति है।

(८) 'क' अक्षर मनुष्य के शरीर में कण्ठ से और 'प' ओष्ठ से बोला जाता है। नास्तिक लोगों का कथन है कि पंच-भूतों के मिलने से इस सृष्टि की रचना हो जाती है। सृष्टि की रचना तो एक ओर रही, सारे संसार के लोग मिलकर भी नियन्ता के इस छोटे-से नियम को नहीं बदल सकते, अर्थात् 'क' को ओष्ठ से और 'प' को कण्ठ से नहीं बोला जा सकता। इस सम्बन्ध का सारा प्रयास व्यर्थ ही होगा और यदि इस नियम में कोई दखल देगा, तो उससे यह शरीररूपी मेशीन खराब ही होगी, सुधरेगी नहीं। अतः इस सृष्टि का कोई नियन्ता है और उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी उसके अटल नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकता।

गायत्री में द्वैतवाद

जो लोग केवल ब्रह्म ही ब्रह्म को मानते हैं, अर्थात् अद्वैत-वादी हैं, उनके मत का परिहार भी यह गायत्री-मंत्र स्वयं कर देता है। इस मन्त्र में भूः, भुवः, स्वः, तत्, सविता, वरेण्यं, भर्गः तथा देव शब्द, सब एकवचनान्त हैं और 'ओम्' के गुणों की स्तुति करने से 'ओम्' के ही विशेषण हैं। परन्तु आगे चलकर इस मंत्र में "धियो यो नः प्रचो-दयात्" इस खण्ड में "नः" तथा उससे पूर्व "धीमहि" शब्द बहुवचनान्त हैं। जो कि जीवों के लिए ही प्रयुक्त हो सकते हैं, ब्रह्म के लिए नहीं। इस मन्त्र में परमात्मा से बुद्धि की

याचना से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि अल्पज्ञ जीव ही अपनी अल्पज्ञता को दूर करने के लिए ईश्वर से बुद्धि माँगते हैं और माँगा उसी से जा सकता है जो अपने से पृथक् तथा बड़ी शक्तिवाला हो, अतः गायत्री-मन्त्र में अद्वैत का आभास लाना भ्रममात्र ही है।

इस प्रकार निरन्तर मनन करने से एक दिन जिज्ञासु को यह निश्चय होने लगेगा कि सत्य ही इस सृष्टि तथा मानव-शरीर आदि का रचयिता कोई महाप्रभु है। इससे वह अपनी अज्ञता और परमात्मा की सर्वज्ञता को अनुभव करने लग जावेगा। उसे यह भी अनुभव होने लगेगा कि हिमालय के सम्मुख एक मच्छर की हस्ती तो हो सकती है, किन्तु इस महान जगत् की तुलना में मेरी कोई हस्ती नहीं। इसलिए, जैसे दुर्बल सबल का सहारा ढूँढता है, इसी प्रकार यह अल्पज्ञ जीव भी संसार के दूसरे कार्यों को छोड़कर अपनी आत्मिक शक्ति को बढ़ाने के लिए उस महती सत्ता के समीप जाने का प्रयत्न करेगा। परमात्मा की अनन्तशक्ति दिखाने के लिए, उसके अनन्त गुणों का आधान करने के लिए, तथा जीवन में श्रद्धा और भक्ति पैदा करने के लिए यह गायत्री माता अपने गुणों को दिखाती है, जिससे बालक में माता के प्रति प्रेम-भावना और श्रद्धा पैदा हो।

[५]

"भूर्भुवः स्वः"

अब गायत्री-मन्त्र के अनुसार, सृष्टि की रचना, स्थिति और प्रलय करनेवाले ओम् के और क्या-क्या गुण हैं, यह वर्णन किया जाता है—

भूः—"भूरिति वै प्राणः"। अर्थात् वह परमात्मा स्वयं प्राण-स्वरूप है और सारे संसार को प्राण दान करता है। यह कार्य संसार में किसी भी अन्य साधन से या मूल्य पर प्राप्त नहीं हो सकता। वह प्राणों का प्राण कैसे है, यह बात दृष्टान्त से विशद की जाती है।

(१) संसार के लोग अनेक प्रकार की मूर्त्तियाँ, खिलौने तथा गुड़ियाँ आदि वस्तुएँ बनाते हैं, किन्तु कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, उनमें प्राण नहीं डाल सकता। परन्तु ईश्वर, जिसका प्रमुख नाम ओम् है,

अपने बनाये प्राणी-रूपी गुड्डे-गुड्डियों में प्राण डालता है इस लिए यह "भूः" विशेषण उसी परमात्मा का हो सकता है।

(२) फुटबाल के अन्दर हवा भरनेवाला चेतन होता है। उसमें वायु भरकर बाहर से रस्सी बाँधने पर ही उसमें वायु ठहर सकता है, यदि रस्सी न बाँधी जावे या उसमें कोई छिद्र हो, तब भी उससे कोई कार्य नहीं हो सकता; अर्थात् न उससे खेला जा सकता है और न उसकी कोई क़ीमत रहती है। परन्तु संसार का प्रत्येक प्राणी तो अपने अन्दर ९ छिद्र रखता है, तिस पर भी इसके अन्दर का वायु बाहर नहीं निकलता अर्थात् प्राणी के गति करते हुए भी, प्राण भीतर ही बना रहता है, और प्राणों की स्थिति आयु-पर्यन्त बनी रहती है। यह कार्य उसी ओम् का है, जो प्राण स्वरूप है और जो सारे संसार को प्राण देता है।

(३) जैसे सितार, हारमोनियम, तबला, तम्बूरा तथा विविध प्रकार के बाजे किसी वृक्ष पर नहीं लगते और न किसी चेतन-शक्ति द्वारा बजाए बिना वे स्वयं बज ही सकते हैं। वैसे ही संसार में मच्छर से हाथी पर्यन्त पशु, अनेक प्रकार के पक्षी, विविध भाँति के कीट तथा मनुष्य आदि प्राणी किसी शक्ति के बनाये हुए बाजे हैं, जो जीते-जागते तथा प्राणस्वरूप हैं। संसार में प्राण के अधीन ही सारी क्रियाएँ हो रही हैं। यदि ये क्रियाएँ तथा प्राण जीव के अधीन होते, तो यह जीव इनको कभी भी निकलने न देता। क्योंकि कोई भी जीव स्वयं यह पसंद नहीं करता कि

मेरी आँख न रहे, कान की शक्ति न रहे तथा वाणी की शक्ति न रहे। इससे प्रतीत होता है कि इन जीवों के अन्दर यह प्राणों के रखने की शक्ति निजी नहीं, अपितु इसके देने वाली इससे भिन्न कोई और ही विशेष शक्ति है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह शक्ति सर्वव्यापक है, इन प्राणियों की शक्ति अर्थात् परमात्मा के प्राणी-रूपी बाजों की बोलने; तथा उनके प्राण तथा अपान आदि की शक्ति प्रति क्षण बनी रहती है। इससे प्रतीत होता है कि वह इन प्राणी-रूप बाजों के प्रतिक्षण साथ रहकर इनको शक्ति प्रदान कर बजाता रहता है, अतः वह बजानेवाला सर्वव्यापक है और भूः नाम से पुकारा जाता है।

संसार में सबसे उत्तम योनि मनुष्य योनि है और उसमें सर्वोत्कृष्ट वस्तु प्राण हैं। शरीर में प्राण के रहते हुए ही माता, पिता आदि सम्बन्ध बने रहते हैं, उसके बाद नहीं। धन, सम्पत्ति तथा राज्य आदि सब प्राण के ही साथ हैं, और सब-कुछ व्यय करने पर भी प्राण कहीं से नहीं मिल सकता। इससे यह पता चला कि सबसे अमूल्य वस्तु प्राण है। यह प्राण मनुष्य को उस भूः स्वरूप ओम् से ही मिलता है। जिज्ञासु के लिए यह अत्यन्त विचारणीय बात है कि वह ऐसी अमूल्य वस्तु देनेवाले परमेश्वर की समीपता में कैसे जा सकता है। यदि कोई मनुष्य प्राणों की महत्ता को समझ जाय, तो वह अवश्य ही कल्याण-पथ का पथिक बन जायगा और इस ओर जीवन के शेष कार्यों की अपेक्षा अधिक समय

देगा। ऐसा व्यक्ति इस कार्य को बेगार नहीं समझेगा, वह अपनी आध्यात्मिक साधना को श्रद्धा, भक्ति तथा पूर्णता से मनसा-वाचा करेगा। इसी से उसका कल्याण होगा।

विद्वानों ने बताया है कि मनुष्य को २४ घंटे में २२,००५ श्वास मिलते हैं, यद्यपि इनका मूल्य अनुमानित करना सम्भव नहीं है, तथापि यदि एक प्राण की एक रुपया भी क़ीमत लगाई जाय, तो प्रत्येक मनुष्य परमात्मा से २२,००५) रुपये प्रतिदिन लेता है। इन प्राणों में से आधे तो सोने में, कुछ बचपन में, कुछ खेल तथा कुछ व्याधि आदि कृत्यों में व्यतीत हो गये। यदि शेष थोड़े-से प्राणों को भी जिज्ञासु ईर्ष्या, द्वेष, गपशप आदि में ही लगा दे, तो उसके कल्याण की संभावना ही कैसे हो सकती है। इस ऋण से वह कैसे उऋण हो सकेगा, जब कि वह उस परमात्मा की स्तुति-प्रार्थनादि में किञ्चिन्मात्र भी समय नहीं देता। इस दशा में वह अपने लिए सुख और शान्ति की आशा कैसे रख सकता है। अतः साधक को चाहिए कि वह समझ-बूझ कर ध्यानपूर्वक इस ओर अपनी रुचि बनाए, जिससे उसका कल्याण हो। एक लेखक ने ठीक कहा है—

"अपने बचपन, नींद, बीमारी तथा व्यर्थ खोये गये समय का हिसाब लगा और तब सोच कि अपने अमूल्य जीवन के कितने स्वल्प भाग का तू सदुपयोग कर पाया है!"

भुवः—"भुव इत्यपानः"। वह ओम् सब दुखों से दूर है और प्राणियों के विविध दुखों को दूर करने में समर्थ

है। जो बन्धन से रहित हो वही दूसरे के बन्धन काट सकता है। जैसे किसी वृक्ष के साथ बँधा हुआ मनुष्य किसी अन्य बँधे हुए मनुष्य के फन्दे नहीं काट सकता। जो स्वयं बन्धन से रहित है, वही दूसरों के बन्धनों को काट सकता है। अवतार, पीर तथा पैग़म्बर आदि मनुष्य के बन्धनों को काटने में असमर्थ हैं, क्योंकि वे स्वयं जन्म-मरण आदि के बन्धनों में बँधे रहे हैं। इसलिए यह विशेषण केवल ओम् के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है।

जिज्ञासु के हृदय में शंका पैदा हो सकती है और इस जिज्ञासा का होना पूर्णतः स्वाभाविक भी है कि वह प्रभु कौन से दुखों को तथा कैसे दूर करता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक भेद से दुखों की तीन श्रेणियाँ हैं, जिनमें संसार के सब प्रकार के दुख आ जाते हैं। यदि दीर्घ दृष्टि से देखा जाय, तो बिना 'ओ३म्' की सहायता के कोई दुख दूर नहीं होता। दृष्टान्त रूप से इस प्रकार समझें कि भूख-प्यास, अङ्गों का ढाँपना, सर्दी तथा गर्मी, अँधेरा आदि दुखों की निवृत्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है और प्रत्यक्षरूप से प्रतीत भी यही होता है कि हम स्वयं ही इन दुखों को दूर करने में समर्थ हैं। परन्तु विचारपूर्वक देखने पर पता चलेगा कि इन कष्टों को दूर करने के लिए यदि परमात्मा के दिये हुए जल,

सूर्य, वायु, पृथिवी तथा अग्नि आदि न हों तो मनुष्य प्रयत्न करने पर भी अपना दुख दूर नहीं कर सकता। उदर आदि के रोगों को भी वही दूर करता है, क्योंकि वैद्य परमात्मा की बताई हुई औषधि से ही उन रोगों का निवारण करता है तथा चिकित्सा-विद्या का आदिमूल भी वही ईश्वर है।

शारीरिक दुखों को दूर करने के लिए वेद तथा विद्वानों ने नीचे लिखे चार साधन बतलाये हैं—

(१) *अथर्वस*—प्राणायाम करने से मनुष्य शरीरस्थ प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान आदि तथा आन्तरिक नस-नाड़ी आदि के सब रोग नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि प्राण, अपान आदि शरीर के आधार हैं, इसलिए इनके ठीक गति में रहने से ही शरीर स्वस्थ रहता है। परन्तु इन प्राणादिकों के ऊपर मनुष्य का अधिकार नहीं। प्राण आदि वायुओं को धारण करना मनुष्य के वश की बात नहीं, अतः मानना ही पड़ेगा कि परमात्मा के आदेश पर ये वायु मनुष्य के शरीर में स्थित है और वही इनके दुखों को दूर करने में समर्थ है। अतः पहला उपाय प्राणायाम है और यह प्राण उसी ओ३म् के आधार पर स्थित हैं और वही शरीर के दुखों को दूर करता है।

(२) *अंगिरस*—अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन। साधारण-तया पानी की गति नीचे की ओर होती है, ऐसे ही मनुष्य की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से भोग भोगने की होती है और भोग भोगने से जल के नीचे जाने की भाँति दुर्बलता आती है।

और जहाँ दुर्बलता है, वहीं रोग तथा अपवित्रता का निवास है। क्योंकि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है और शक्ति में पवित्रता रहती है, अतः उस शक्ति स्वरूप परमात्मा का अनुष्ठान करने से मनुष्य भोगों में नहीं फँसता तथा अपनी शक्ति को स्थिर रख सकता है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य पवित्र रह सकता है और दुखों से बचा रहता है। अतः ओम् के आश्रय से ही ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं।

जल के अन्दर पड़ी हुई मछली मगरमच्छ से तभी बच सकती है, जब वह मछियारों द्वारा डाले हुए आटे आदि की ओर आकृष्ट न होकर मगरमच्छ को दूर से देख ले। मछली स्वाभाविक गन्ध से ही दूर से आते हुए मगरमच्छ को पहिचान लेती है; परन्तु यदि लालच में पड़कर लापरवाही से वह वहीं खड़ी रही, तो उसका बचना कठिन है। अन्यथा वह उस प्रभु-कृपा से बच सकती है। इसी प्रकार यदि मनुष्य भी कामादि ग्रहों से अपने को बचाना चाहता है तो उसे इनके आकर्षण से बचना होगा और ब्रह्मचर्य की ओर ध्यान देना होगा। यह कार्य प्रभु की कृपा के बिना अत्यन्त कठिन है।

(२) *दैवी*—सूर्य, वायु, जलादि की प्राकृतिक चिकित्सा। सूर्य आदि के यथायोग्य सेवन करने से मनुष्य के बड़े से बड़े भी दुख दूर होते हैं। जल, वायु तथा सूर्य की चिकित्सा से तपेदिक आदि नाना प्रकार के ये भयङ्कर रोग दूर किये जाते हैं और ये सब शक्तियाँ भी उसी सृष्टि-रचयिता

प्रभु की दी हुई हैं, किसी वैद्य या मनुष्य का इन शक्तियों पर कोई अधिकार नहीं।

(४) *औषधि*—सब प्रकार की वनस्पतियाँ रोगों को दूर करती हैं, इन्हीं से चिकित्सक लोग रोगों की चिकित्सा करते हैं। इन औषधियों का उत्पन्न करनेवाले भी वही ओम् है, जिसके सहारे पर ये औषधियाँ अपना प्रभाव करती हैं। इस तरह हमें मानना ही पड़ेगा कि परमात्मा ही हर एक रोग को दूर करनेवाला है।

यदि किसी मनुष्य का अपान वायु ही वर्ष-भर में केवल एक दिन के लिए विकृत हो जाए, तो वह डाक्टर को उसकी मनचाही फीस देकर, रोग को दूर करने का प्रयत्न करता है, और हर प्रकार के साधन करता हुआ अपनी शक्ति से अधिक व्यय भी करता है। उस दशा में वह डाक्टर की आज्ञा से उपवास करता है और पथ्य लेता है। परन्तु ३६४ दिनों में जो 'भुवः स्वरूप' ईश्वर अपान वायु को ठीक रख इस शरीर रूपी गाड़ी को समुचित गति देता है, यदि ऐसे महान् वैद्य का मनुष्य कृतज्ञ नहीं होता तो उसके रोग कैसे दूर हों। इस लिए सर्व रोगों की निवृत्ति के उद्देश्य से उस 'भुवः' विशेषण युक्त ओम् का जाप करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। जिससे उसके समीप हो रोगों को दूर किया जावे।

मृत्यु-दुख

संसार में मनुष्य के लिए सबसे बड़ा दुख मृत्यु-दुख

है। यहाँ विचारणीय यह है कि मृत्यु क्या वस्तु है तथा मृत्यु से सबसे अधिक डर क्यों लगता है। आत्मा का शरीर से वियोग ही मृत्यु है। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त जीव का शरीर से सम्बन्ध रहता है। इस शरीर के साथ जीव का विशेष सम्बन्ध होने से वह इससे विशेष प्रेम करने लगता है तथा इसको वह अपना समझ लेता है और इसे छोड़ने पर वह दुखी होता है। यह शरीर, जो कि लक्ष्य की सिद्धि के लिए परमात्मा ने उसे (आत्मा) को दिया है, अज्ञान से इसे वह अपना लक्ष्य समझ लेता है। अतः उसे मृत्यु समय अधिक दुख होता है।

मृत्यु के दुख से वह बच सकता है, जो जन्म के बन्धन में न आवे। कारण यह कि जो जन्म लेगा, उसकी मृत्यु एक न एक दिन अवश्य होगी ही।

केवल वही मनुष्य जन्म के बन्धन से छूट सकता है, जो इस शरीर-जन्य प्रेम को छोड़कर उस लक्ष्यरूप अक्षर का आश्रय ले, जो जन्म-मरण के बन्धन से अलग है। अन्त समय में बड़े से बड़े नास्तिक, विद्वान्, राजा, महाराजा तथा शक्तिशाली लोग अपनी प्रत्येक प्रकार की पूर्ण शक्ति व्यय करके भी इस मृत्यु से बचने के लिए कोई भी उपाय नहीं देखते; तब ईश्वरेच्छा को ही बलवती मान उसका ही आश्रय लेते हैं, अन्य किसी का नहीं। यदि मनुष्य पहले ही परमेश्वर का आश्रय ले ले और सांसारिक वस्तुओं को लक्ष्य न समझ उन्हें साधनमात्र बना ले तो उसे किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न हो। अतः

जिज्ञासु को "भुवः" स्वरूप परमेश्वर का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है।

स्वः—"स्वरिति व्यानः" अर्थात् वह परमात्मा आनन्द-स्वरूप है और सबको सुख देनेवाला है।

प्रश्न होता है कि वे सुख कौन से हैं, जिनको वह प्रदान करता है। जिज्ञासु को अपने हृदय में स्वः का जाप करने का यही तात्पर्य समझना चाहिए कि प्रत्येक प्रकार के सुख को वह इस दृष्टि से देखे कि उसमें परमात्मा का हाथ है या नहीं ? क्या उसकी कृपा के बिना कोई सुख मिल सकता है ?

संसार में सबसे बड़ा सुख विद्या है, क्योंकि विद्या के बिना संसार के सब पदार्थ किसी भी मूल्य के नहीं। विद्वान् के हाथ में लोहा आने से वह उससे घड़ी, मैशीन तथा अन्य अनेक प्रकार की अत्युपयोगी वस्तुएँ बना सकता है। विद्यावान् ही अपने राज्य, राष्ट्र, देश तथा परिवार को उत्तम बना सकता है। विद्या से मनुष्य देवत्व अथवा निर्वाणपद प्राप्त कर सकता है। विद्या के बिना साधारण कार्य भी अत्यन्त कठिन हो जाता है और विद्याहीन मनुष्य पशु के समान ही रहता है।

सृष्टि के आदि में शब्द-रूप ज्ञान देनेवाली माता, जिसका नाम 'ओम्' है, पुरुष को ज्ञानचक्षु देती है, जिससे मनुष्य उन्नत होता है। इस प्रकार इस सुख का देनेवाला भी वही परमेश्वर हुआ।

गूँगे की ओर देखकर वाणी के सुख का अनुमान कर लेना चाहिए। यदि वाणी न हो तो मनुष्य गूँगों के समान कितना दुःख भोगे। यह वाणी ही है जो मनुष्य और पशु में भेद करती है। मनुष्य वाणी द्वारा अपने आप सुखी हो सकता है तथा दूसरों को सुखी कर सकता है। परन्तु पशु अपने भावों को दूसरों पर प्रकट करने में असमर्थ होने से अपना दुख दूर नहीं कर सकता और सुखी नहीं हो सकता।

अन्धे को देखकर दृष्टि-सुख का अनुभव करना चाहिए। यदि आँख का प्रकाश जाता रहे, तो डाक्टर सारे प्रयत्न करके भी उसे प्रकाश नहीं दे सकता। जन्मान्ध मनुष्य कभी देखने में समर्थ नहीं हो सकता। इस देखने की शक्ति को देनेवाला वही "स्वः" स्वरूप परमात्मा है।

संसार में अनेक प्रकार के भोग हैं, अनेकविध खाद्य-पदार्थ हैं। मनुष्य केवल उनको अपने उदरस्थ करना ही जानता है। अन्दर की क्रिया अर्थात् रस आदि का निर्माण वह स्वयं नहीं कर सकता। जठराग्नि के बिगड़ जाने से संसार के रूप, रस, गन्ध आदि कुछ भी अच्छे नहीं लगते। यह जठराग्नि ठीक न हो तो मनुष्य को कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। ऐसी अवस्था में मनुष्य दुखी होता है, अनेक प्रकार के इलाज करता है। परन्तु परमात्मा इस जठराग्नि की क्रिया कैसी उत्तम रीति से कर रहा है, यह विचार कर देखना चाहिए। अन्दर आग है, पर वह पेट नहीं जला सकती। इतना महान् सुख उसके बिना कौन देनेवाला है।

अतः उस परमात्मा का आश्रय तथा उससे प्रेम करना चाहिए, जिससे यह सुख प्राप्त होता है।

नींद के न आने से मनुष्य रोगी समझा जाता है। सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं—परन्तु यह नींद, माता, पिता, डाक्टर आदि से नहीं मिलती। यदि कोई अपनी नींद देना भी चाहे तो भी नहीं दे सकता। यह नींद धन देने से प्राप्त नहीं होती। राज्य अर्पण करने पर भी यह प्राप्त नहीं होती। दुनिया में बहुत से दृष्टान्त हैं कि असंख्य रुपये व्यय करने पर भी यह वस्तु न मिली। वैद्य भी नशीली दवा देकर बीमार को बेहोश कर देता है, परन्तु स्वाभाविक नींद नहीं दे सकता। डाक्टर भी पहली बात रोगी से यही पूछता है कि रात को नींद आयी या नहीं? यदि नींद आ गई हो तो वह समझता है कि रोगी के रोग में कमी है अन्यथा वह रोग को वृद्धि पर समझता है। इस प्रकार नींद पर शरीर-सुख आश्रित है। इससे पता चला कि जो शक्ति रातदिन इस शरीर की रक्षा कर रही है, वही "स्वः" है। जीव को तो कुछ पता ही नहीं कि उसके स्वास्थ्य का रक्षण किस प्रकार हो रहा है।

इस प्रकार अच्छे माता-पिता तथा गुरु आदि की प्राप्ति का सुख और सत्संग, नेक कमाई आदि का आनन्द उसी "स्वः" की संगति में जाकर ही मिलता है, जो उससे प्रेम करता है वही सुखी है।

जैसे भूमि में जब खट्टे, मीठे या कड़वे बीज डाले जाते हैं

तब वे बीज वैसे ही अंश पृथिवी में से लेकर वैसा ही फल उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार जिस मनुष्य ने पूर्वजन्म में उस "स्वः"रूपी परमेश्वर से प्रेम किया है, उसे सत्संगी माता-पिता आदि साधन सुखरूपी फल देने के लिए ईश्वरीय नियम से मिल जाते हैं। यदि वह इस जन्म में भी शुभकर्म के बीज बोता रहे, तो इससे वह अपने ध्येय को प्राप्त करने में समर्थ होगा।

[६]

"तत्सवितुर्वरेण्यं"

तत्—'तत्' शब्द के अर्थ निम्नलिखित हैं—

(१) प्रसिद्ध, विख्यात अर्थात् जिसको सब जानते हों; नाम लेते ही समझ जायें, ग़लती न लगे।

(२) बुद्धिस्थ, अर्थात् जो सहज-प्राप्त हो; हर समय ध्यान में रहे।

(३) अँगुली से निर्दिश्यमाण; अर्थात् 'वह'।

(४) पूर्व-वर्णित या आगे वर्ण्यमान।

यहाँ 'तत्' शब्द आगे-पीछे दोनों ओर संकेत करता है। अर्थात् पूर्व-वर्णित 'ओम्' नामवाला ईश्वर केवल भूः, भुवः, स्वः ही नहीं है, परन्तु वह कुछ और भी है, अर्थात् वह आगे वर्णित गुणोंवाला भी है।

यहाँ 'तत्' शब्द ने बल देकर ओम् की ही उपासना की

और विशेष ध्यान दिलाकर, अवतारवाद का खण्डन कर दिया है। क्योंकि भूः, भुवः, स्वः, सवितः, भगः आदि विशेषण किसी शरीरधारी के साथ नहीं लगाये जा सकते और न ही किसी महान् पुरुष ने, जिनको अवतार आदि की पदवी दी गई है, कभी सविता (जिसका अर्थ सृष्टि उत्पन्न करने वाला, शासन करनेवाला, प्रेरणा तथा उपदेश करनेवाला है) और भर्गः (पाप नाशक, तेज और प्रकाश का देनेवाला) अपने को स्वीकार किया है। जब ये विशेषण किसी देह-धारी अवतार के साथ लग ही नहीं सकते, तब 'धीमहि' उन सूर्य आदि जड़ और राम, कृष्ण आदि की उपासना का विरोध कर देता है; क्योंकि 'धीमहि' का तात्पर्य उन गुणों को धारण करना है, जो कि 'तत्' शब्द से पूर्व और आगे ओम् नामवाले ईश्वर के लिए वर्णन किये गये हैं। और यही सच्ची उपासना है।

'तत्' शब्द के और भी अर्थ हैं—

(१) विस्तृत और विस्तारक।

(२) 'ओ३म् तत सत्'।

इसमें 'तत्' का अर्थ ओम्, और ओ३म् का अर्थ खं ब्रह्म= आकाश की भाँति सर्वत्र व्यापक, सबसे महान् और सर्वज्ञ ईश्वर है।

सविता—इस शब्द का अर्थ है, सृष्टि का रचनेहारा। और यह शब्द 'ओम्' का ही विशेषण है। जिज्ञासु

को पहिले ध्यानपूर्वक विवेचन करना चाहिए कि सृष्टि रचयिता कोई है भी या नहीं ?

(१) संसार को देखने से पता चलता है कि कोई भी वस्तु बिना कर्त्ता के नहीं बन सकती, चाहे उसका निर्माता प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष। बन में पड़े हुए पत्थर की कोई क़ीमत नहीं और न उसके अन्दर कोई आकर्षण है, जिससे मनुष्य उसकी ओर देखे। परन्तु जिस समय एक शिल्पी उसकी मूर्त्ति या अन्य कोई चित्र बना देता है, तो उसके अन्दर आकर्षण आ जाता है। उसका मूल्य बढ़ जाता है। घरों और मन्दिरों में उसकी स्थापना की जाती है तथा सजावट आदि के कार्य में उसे लगाया जाता है। उस पत्थर में यह परिवर्तन कारीगर की बुद्धिमत्ता तथा उसके हाथ का चमत्कार ही है। उसी तरह इस सुन्दर सृष्टि का रचयिता वह महाप्रभु ही है।

(२) जंगल में पड़ी एक लकड़ी कालान्तर में सड़ जायगी। परन्तु एक कारीगर उसे वहाँ से उठा, चीर-फाड़ तथा नक्काशी कर उस पर अनेक प्रकार की बेलें, चित्र तथा भाँति भाँति का कला-कौशल दिखाता है। तब उस साधारण-सी लकड़ी का मूल्य बढ़ जाता है, वह लोगों के मनों को हरती है। कुर्सी, मेज़, अलमारी आदि अनेक वस्तुएँ बनाकर लोग उससे लाभ उठाते हैं। यह सारी क्रांति उस जीवित शिल्पी की है, जिसने इसे अपनी बुद्धि-चातुर्य से ऐसा बनाया।

(३) सुवर्ण, चाँदी, पीतल तथा लोहा आदि विविध भाँति की धातें खान या नदियों की रेत में पड़ी हुई मूल्य-

वान् नहीं, वहाँ उनकी शोभा नहीं, परन्तु जब उन्हीं वस्तुओं को वहाँ से लाकर उपयोग में लाया जाता है, तो उनसे विविध भाँति के आभूषण, अनेक प्रकार की मूर्त्तियाँ, नानाविध मैशीनें आदि बनाई जाती हैं। जिनसे हर एक व्यक्ति लाभ उठाता है। यह सारी महिमा उसी चेतन कारीगर की है, जिसने इतना परिश्रम किया। ये वस्तुएँ अपने आप नहीं बनीं; पर चेतन के हाथ की कुशलता से इनका इतना उपयोगी स्वरूप बन गया।

(४) बाज़ार में पड़ी हुई लकड़ियाँ, चूना, गारा, ईंट तथा अन्य वस्तुएँ आसपास के लोगों के लिए दुखदायक हो जाती हैं। म्यूनीसिपल कमेटीवाले बाज़ार या सड़क पर से उन्हें उठा देने का नोटिस दे देते हैं! परन्तु जब एक चतुर मिस्त्री उनको नियम-बद्ध कर यथास्थान लगा देता है, तो वे वस्तुएँ एक भवन की आकृति धारण कर लेती हैं। उस भवन में सर्दी तथा गर्मी से रक्षा होती है, सत्संग होते हैं, लोग लाभ उठाते हैं और आराम करते हैं। पर यह सब अपने आप नहीं होता, इनकी नियामिका भी कोई चेतन-शक्ति ही है।

इन बातों से विदित होता है कि इस महान् संसार की रचना भी किसी चेतन शक्ति के बिना नहीं हो सकती।

जैसे मूर्ति, आभूषण, अलमारी आदि जड़ वस्तुओं की संगति से कोई मनुष्य उनसे गुण नहीं लेता, अपितु कारीगर के पास बैठने से ही वह गुण पा सकता है, वैसे ही उस परमात्मा की रची हुई जड़ वस्तुओं के पास बैठने से कोई गुणी

नहीं बनता, अपितु इनके बनानेवाले की संगति से ही मनुष्य के गुणों की वृद्धि होती है। अतः इसी का सामीप्य ही मनुष्य को उन्नत बनावेगा।

(५) यह 'सविता' शब्द संसार के किसी कारीगर के लिए नहीं है, अपितु इस संसार के रचनेवाले ईश्वर के लिए है। संसार में एक कारीगर घड़ी आदि को बनाकर दूर हो जाता है, अतः वह उनकी मरम्मत आदि नहीं कर सकता। उनको ठीक स्थिति में रखने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु उस सविता की कारीगरी में मरम्मत आदि सुधारों की आवश्यकता नहीं। यदि मनुष्य कुछ सुधार करने के लिए दौड़-धूप करेगा भी तो यह मैशीन और भी विकृत हो जाएगी। वह सविता तो स्वयं ही सृष्टि बनाता है, स्वयं ही उसकी मरम्मत करता है।

(६) हिरन घास खाता है और घास में सुगन्धि नहीं होती। परन्तु उसके अन्दर सुगन्धियुक्त कस्तूरी कैसे पैदा हो जाती है? यह बनानेवाले की विचित्रता है। इसी प्रकार पृथिवी पर हर जगह केसर नहीं पैदा होता, परन्तु किसी विशेष स्थान में उसने विचित्र गुण भर दिये हैं, जहाँ केसर पैदा हो जाता है। वृक्षों के फूलों में सुगंधि होती है, परन्तु चन्दन के सब अवयवों में ही सुगंधि है। इसी प्रकार जल-मात्र में समानता होने पर भी स्वातिनक्षत्र में पड़ी हुई सीप की बूँद मुक्ता बन जाती है, अन्य जल मुक्ता नहीं बन सकता। इस विचित्रता का कारण भी कोई चेतन सत्ता है जो सविता कहाती है।

(७) आस्ट्रेलिया के रेगिस्तानों में, जहाँ हजारों मीलों तक रेत ही रेत है, पानी का नामोनिशान नहीं, कोई खाने की वस्तु नहीं, सब्जी नहीं, वहाँ पर भी दो प्रकार के वृक्ष मिलते हैं, जिनको 'पानी के वृक्ष' और 'रोटी के वृक्ष' कहा जाता है। वे बाँस की आकृति के हैं। उनके ऊपर टहनियाँ लगकर वे पत्ते के एक कटोरे की भाँति बन जाते हैं और इनमें अन्दर से ही थोड़ा-थोड़ा करके पानी भर जाता है, जहाँ से प्यासा मनुष्य पानी पीता है और दूसरे वृक्ष पर रोटी की आकृतिवाले पत्ते होते हैं, जिनको खाने से भूख शान्त हो जाती है। यह दृष्टान्त बताता है कि जिस प्रकार बच्चे के पैदा होने से पूर्व ही माता के स्तनों में दूध आ जाता है, ठीक उसी प्रकार ऐसे स्थानों पर भी चेतन शक्ति प्राणियों के लिए उनके आहार तथा पान के निमित्त उपयोगी वस्तुओं का निर्माण कर देती है।

(८) अक्षरों से स्वयं शब्द नहीं बनते, न वाक्यरचना होती है और उनमें किसी प्रकार का ज्ञान भरा होता है। परन्तु जब एक बुद्धिमान् लेखक पुस्तक की रचना कर उसमें नाना प्रकार के ज्ञान भर देता है तो उससे लोगों को लाभ होता है और बनानेवाले की बुद्धि का प्रकाश होता है। उसी प्रकार संसार की सम्पूर्ण वस्तुरूपी पुस्तकें अनन्त ज्ञान से सम्पन्न हैं। यदि एक पत्ते के गुण की ओर भी हम ध्यान दें तो उसमें अनन्त गुणों का समावेश हमें दिखाई देगा। तब उससे हम विविध भाँति के लाभ उठा सकेंगे तथा दूसरों को भी पहुँचा

सकेंगे। यह बात बताती है कि उस पुस्तक रचनेवाले की भाँति इस संसार का भी कोई रचयिता है जो वस्तुओं के अन्दर विविध भाँति के गुणों की रचना कर संसार के प्राणियों को लाभ पहुँचा रहा है और इन पदार्थों से उस चेतन सविता के अनन्त ज्ञान का प्रकाश हो रहा है।

(६) एक धनाढ्य पुरुष अपने धन से बिजली का हरएक प्रकार का सामान ख़रीद कर दुकान में रख लेता है। तार, खम्बे, स्विच, बल्ब आदि नाना प्रकार के सामान उसकी दुकान में हैं। वह मार्गों पर खम्बे आदि भी लगा देता है। परन्तु यदि उस नगर में बिजली न हो तो यह सारी सामग्री उसे रोटी भी नहीं दे सकती; क्योंकि ये वस्तुएँ बिजली के बिना एकदम व्यर्थ हैं। बिना बिजली के तार, स्विच आदि का लगाना लोगों के लिए दुखप्रद, तथा उनके कोप का कारण ही होगा। उनसे किसी प्रकार का भी किसी को लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार संसार की सारी वस्तुएँ होने पर भी यदि सवितारूप बिजली नहीं, तो यह सारी सामग्री दुखदायक हैं, प्रेम के योग्य नहीं और मुर्दे की भाँति यह सब हेय हैं। उस दशा में इनके लिए समय देना, बुद्धि लगाना तथा धन का व्यय करना निरर्थक है, जब तक कि सविता शक्ति को अपने अन्दर लाने का प्रयत्न न किया जावे। जैसे विशेष प्रयत्न तथा बुद्धि आदि साधनों से उस नगर में बिजली लाई जा सकती है और उपर्युक्त सारे सामान को लाभप्रद तथा सुखकर बनाया जा सकता है, साथ ही धनी के धन से भी

आय हो सकती है। ठीक इसी प्रकार विशेष ज्ञान तथा पुरुषार्थ से ब्रह्मविद्या द्वारा ही उस सविता-शक्ति को अपने अन्दर लाया जा सकता है और उसी दशा में यह संसार की सारी सामग्री मनुष्य के लिए बिजली के प्रकाश की भाँति सुखकर हो जाती हैं। जैसे बिजली के सामान को लगाने और उससे प्रकाश लेने के नियम हैं, यदि उनको तोड़ा जाये, तो बिजली के होते हुए भी कोई उनसे लाभ नहीं उठा सकता। उन नियमों को तोड़नेवाला अँधेरे का दुख सहता रहेगा; इसी प्रकार उस सविता के भी इस सृष्टि में कुछ नियम हैं, जिनको ग्रहण कर तथा नियमों का पालन कर मनुष्य सुखी हो सकता है। इन पदार्थों से वह लाभ उठा सकता है। यदि वह इन नियमों का पालन न करे, तो वह अज्ञान में रहेगा और अज्ञान से इनका दुरुपयोग कर वह दुखी होगा। इसलिए उस सविता तथा उसके नियमों का ज्ञान ही सविता का वास्तविक जाप है।

बिजली के आने पर लोग स्वयं ही वहाँ बिजली का सामान ले आयेंगे; वैसे ही सविता के जाप से अर्थात् हृदय-मन्दिर में उसकी स्थापना करने से संसार की ये सारी वस्तुएँ स्वयमेव वहाँ आ जायेंगी। जहाँ विष्णु होगा, वहाँ ही लक्ष्मी स्वयमेव अपने पति के पास चली आवेगी। सूर्य होने पर प्रकाश स्वयमेव ही आ जाता है और तब अँधेरा तथा रोग भाग जाते हैं, इसी प्रकार सविता की उपासना से सारे सुख स्वयं पास आ जायेंगे और सारे दुख दूर हो जायेंगे।

इसलिए मनुष्य को संसार के पदार्थों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, अपितु उस सविता को अपने हृदय में स्थापित करने की चिन्ता ही करनी चाहिए।

वरेण्यं—यह 'ओ३म्' का तीसरा विशेषण बताया गया। वरने योग्य, ग्रहण करने योग्य तथा पूजा योग्य। यहाँ यह शंका हो सकती है कि क्या संसार में और कोई वस्तु वरने योग्य या ग्रहण करने योग्य नहीं ?

संसार में सबसे विशेष सर्वबन्धु, ग्रहण करने योग्य वही ओंकार है। यह वरेण्यं शब्द उसी के लिए है, अन्य के लिए नहीं। कारण यह है कि—

(१) संसार के सब बन्धु, माता, पिता तथा मित्र आदि हमें छोड़ जाते हैं और अन्त समय वे कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। परन्तु परमात्मा का सम्बन्ध कभी भी नहीं छूट सकता, अपितु वह सदा साथ रहते हुए प्राणी का कल्याण करता है, तथा उसको शुभकर्मों की ओर प्रेरित करता रहता है। दूसरों से तो कभी हम रूठ भी जाते हैं, और वे हमें छोड़ देते हैं, पर ओंकार तो प्रतिक्षण ही हमें अपनी समीपता में रखता है।

(२) जैसे मछली का आधार पानी है, उसके बिना वह जीवित नहीं रह सकती; जिस प्रकार शरीर बिना प्राणवायु के नहीं रह सकता और जिस प्रकार छोटे बच्चे का आधार माता का दूध है, माता के दूध के बिना उसका निर्वाह कठिन है, इसी प्रकार जीव का आधार या उसके वरने योग्य वही

ईश्वर है। इसी का हाथ पकड़कर यह मृत्यु आदि भयंकर दुखों से तर सकता है; अतः जीव का वरने योग्य यह ओंकार ही है, अन्य वस्तुएँ नहीं; उनके बिना जीव का निर्वाह हो सकता है।

(३) एक पतिव्रता स्त्री के लिए उसका पति ही वरने योग्य है। यद्यपि अन्य सम्बन्धी भी उसके प्रेम के, सेवा के, योग्य हैं और उनके साथ अच्छा व्यवहार करने से पति भी प्रसन्न होता है, परन्तु धारण करने योग्य तो वही पतिदेव है, जिसको वह वरती है। इसी प्रकार यद्यपि संसार की वस्तुएँ प्रेम योग्य हैं, पर वरने योग्य तो वही देव है। अन्य सब वस्तुएँ तो साथ छोड़ जाती हैं। बस, इनकी सेवा, इनसे प्रेम तो इसी लिए है कि भगवान् प्रसन्न हों। यदि इनके साथ मोह होगा तो यह उस देव को रुष्ट करना होगा। अतः यह वस्तुएँ वरने योग्य नहीं। किसी ने ठीक कहा है कि "प्रेम तो सबसे करो, किन्तु हृदय में स्थान उस ओंकार को ही दो।"

(४) संसार के सब संबन्धी, जिनसे बड़ा प्रेम किया जाता है, किसी प्रकार का विरोध-भाव उत्पन्न होने पर, या उनके अनुकूल काम न करने पर, गुप्त बातों को प्रकाशित कर देते हैं, जिससे अन्य पुरुषों की दृष्टि में हमें अपमानित और दुखी होना पड़ता है। बहुत वार द्रव्य की हानि भी होती है, परन्तु वह मित्र तो हमारी हरएक मानसिक क्रिया को, जो कि गुप्त से गुप्त भी है, जानता है, पर वह किसी को

भी बताता नहीं। उसी की कृपा के कारण अपने मानसिक पापों से हमें संसार के किसी सम्बन्धी के सामने लज्जित नहीं होना पड़ता। अतः सर्वोत्तम मित्र, बन्धु, पिता और माता वही है और वही वरने योग्य है।

(५) संसार में सूर्य, वायु तथा जल आदि पदार्थ बाह्य अपवित्रता को दूर करते हैं। डाक्टर बाहर के रोगों को ही दूर कर सकता है। माता-पिता बाह्य अपवित्रता को ही दूर करते हैं, परन्तु अन्दर के राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की अपवित्रता को संसार के पदार्थ दूर करने में समर्थ नहीं, क्योंकि वे अन्दर की अपवित्रता को जानते ही नहीं, वे इसे दूर कैसे करें। इनको तो वही वरने योग्य देव दूर करता है। वही मनुष्य से एकान्त में हार्दिक चिंतन करा, उन पापों से रोकता है। इसी जन्म के ही नहीं, अपितु परम्परागत संस्कारों को वह परमात्मा जानते हुए भी, किसी को बताता नहीं, अपितु प्राणी के हृदय का संशोधन करता है। मनुष्य का सुधार उसी के हाथ में है, अन्य किसी के नहीं। अतः वही वरने योग्य है।

(६) एक नव विवाहित स्त्री जिस समय पति के घर आती है, तो पति की सारी वस्तुओं पर उसका अधिकार हो जाता है और पति के घर सारी वस्तुएँ उसके अधीन हो जाती हैं। कोई भी नववधू के इस अधिकार को मानने से इनकारी नहीं करता तथा घर के सब सेवक घर के मालिक की भाँति उसकी आज्ञा मानते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति

उस परमेश्वर को वर लेता है तो संसार का यह सारा ऐश्वर्य उसी का हो जाता है; और वह जैसा उचित प्रयोग करना चाहे, कर सकता है। परमात्मा की कोई वस्तु उससे दूर नहीं रहती। इससे बढ़कर जिज्ञासु और किस फल की आकांक्षा कर सकता है? इसलिए उसी प्रभु को वरना चाहिए और किसी को नहीं। संसार के सब पदार्थों में केवल उसी के प्रति सेवक दृष्टि होनी चाहिये। वही देव साधक को अपना महाराजा प्रतीत हो तथा उसी में साधक का प्रेम हो।

[७]

"भर्गोदेवस्य धीमहि"

भर्गः—वह शुद्धस्वरूप है; दूसरों को भी वह शुद्ध कर देता है।

(१) मनुष्य का जन्म इसी उद्देश्य से होता है कि वह अपनी आत्मा की निर्बलताओं को दूर करे। यदि जीवात्मा में कोई निर्बलता, पाप या मल न हो, तो वह माता के गर्भ में नौ मास का दुख क्यों भोगे। जो आप ही अपवित्र है, वह दूसरों को कैसे साफ़ कर सकता है; इसलिए यह 'भर्गः' शब्द उसी ओंकार में घट सकता है, जो कि जन्म-मरण के बन्धन से रहित है तथा मलीनता से दूर है; अतः वह शुद्ध-स्वरूप है।

(२) प्रकाश के बिना मनुष्य ग़लती करता है, गिरता है। अँधेरे में ही अज्ञान है, जो दुख का कारण होता है। प्रायः रज्जु में सर्प की भ्रान्ति भी अँधेरे में ही होती है, प्रकाश में नहीं। जहाँ प्रकाश है, वहाँ पवित्रता है, सुख है, प्रकाश

में पाप नहीं होता। चोर, डाकू आदि अँधेरे में ही लूटते हैं, प्रकाश में नहीं। सारा दुख अँधेरे में ही है, प्रकाश में नहीं। जब प्रकाश देनेवाला सूर्य छिपता है तो लोग चाँद, बिजली तथा दीपक आदि का आश्रय लेकर अपना कार्य चलाते हैं। परन्तु बादल या अँधेरी आदि आने पर जब चाँद छिप जाता है, दीपक बुझ जाते हैं तो कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। तब भी यह जीव अपनी कर्मेन्द्रियों से अपने कार्य को भली भाँति चला लेता है। अपने कमरे में रक्खी हुई वस्तुओं को मनुष्य टटोल लेता है। माता-पिता की आवाज़ को मुँह देखे बिना भी वह पहचान लेता है। हाथ से घड़ी आदि को वह पहचानता है। यह प्रकाश (ज्ञान) उसे उसी प्रकाशस्वरूप परमात्मा से प्राप्त होता है, जिसका नाम 'भर्गः' है।

(३) मनुष्य अपने शरीर को जल से, मकान को झाड़ू से तथा कपड़े को साबुन से साफ़ करता है। परन्तु जब ये साधन स्वयं स्वच्छ हों, तभी वे शरीर आदि को पवित्र कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार मन की मलीनता को दूर करने का साधन सत्य है। जहाँ पूर्ण पवित्रता है, पूर्ण ज्ञान है तथा पूर्ण प्रकाश है, वहाँ ही सत्य है; वहाँ किसी प्रकार का स्खलन नहीं और यह पवित्रता उसी भर्गः-रूप ओंकार में ही है। अन्य सब पदार्थ तो विकारी हैं, जो निर्विकार की ओर नहीं ले जाते।

(४) परमात्मा का पवित्र करने का ढंग भी विचित्र है।

वह संसार की अन्य शक्तियों में नहीं पाया जाता और इसी लिए यह भर्ग शब्द किसी अन्य के साथ भी नहीं लग सकता। वह रीति यह है कि जो मनुष्य जिस इन्द्रिय से पाप करता है, वह प्रभु उसके सुधार के लिए उसे ऐसी योनि में भेज देता है, जहाँ उससे वह इन्द्रिय छीन ली जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उसे उस इन्द्रिय के दुरुपयोग की आदत ही भूल जाती है। जैसे यदि किसी योद्धा को तलवार चलाने का बहुत समय तक अवसर न दिया जाय, तो वह उसे चलाना ही भूल जाता है और तब वह उसका दुरुपयोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार वह प्रभु इस इन्द्रिय को छीनकर उसके बुरे संस्कारों का समूलोन्मूलन कर देता है। पुनः काफ़ी समय के बाद, पवित्रतापूर्ण सदुपयोग के लिए वह इन्द्रिय उस जीव को पुनः दे देता है। जिससे प्राणी पुनः नये सिरे से उत्तम कर्म करने लगते हैं। सोने तथा लोहे को अग्नि में डालने से उनका पूरा का पूरा टुकड़ा गर्म हो जाता है। पुष्पों का रस निकालनेवाला उस रस में से कड़वापन दूर नहीं कर सकता, वह तो उस रस में अवश्य आयेगा ही। परन्तु परमात्मा दूसरी योनियों में भेज उसके पाप-संस्कारों का संशोधन करता है, उसके पवित्र गुणों को नहीं हटाता, वह मनुष्य-योनि में उनका फल सुख प्रदान करने के रूप अवश्य देता है।

मनुष्य के ऊपर कुछ ऋण हैं, जिनको चुकाने के लिए ही यह मनुष्य जन्म दिया जाता है। जिससे वह उस ऋण से मुक्त हो जावे और उऋणता के सुख को प्राप्त हो। ऋण ही

मलिनता है, जो कि आत्मा को अपवित्र बना जन्म-मरण के दुखों में फँसाता है। पवित्रता में ही सुख है। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह पिछले ऋण को चुका दे और आगे के लिए ऋण न ले, अर्थात् सकाम कर्म को छोड़ वह निष्काम कार्य किया करे। इस तरह वह भी एक दिन पवित्र हो जावेगा, क्यों वह भर्ग-प्रभु अकाम है, इसी कारण वह पवित्र है। जो मनुष्य पवित्रता का सुख लेना चाहता है, उसे भर्ग-स्वरूप की उपासना कर तद्रूप हो जाना चाहिए। इससे उसकी मलिनता दूर होगी और कर्म-बन्धन का प्रहाण होगा।

देव—इसके अर्थ हैं—प्रकाश करने वाला, प्रकाशक, ज्ञान-स्वरूप, ज्ञानदाता तथा प्रकाशस्वरूप आदि।

(१) संसार में दो प्रकार के देव हैं, एक जड़ और दूसरे चेतन। जड़ देव सूर्य, हवा, अग्नि, चन्द्र तथा पृथिवी आदि हैं, क्योंकि ये लोगों को प्रकाश, प्राण, उष्णता, सौम्यता तथा अन्न आदि देते हैं। परन्तु इनके प्रकाश आदि गुण स्वतः-सिद्ध नहीं; ये सब चेतन से ही इन गुणों की प्राप्ति करते हैं, अर्थात् इनका दाता कोई अन्य चेतन है अतः वे स्वयं परतन्त्र हैं। दूसरी प्रकार के देव माता, पिता, गुरु तथा विद्वान् लोग हैं, जो दिव्य गुणोंवाले होने से ही यह नाम पाते हैं और इनका ज्ञान भी गुरु आदि के अधीन होने से अल्प है, परन्तु इस मन्त्र में देव शब्द "देवों का देव" इस अर्थ में प्रयुक्त है, क्योंकि वही इन सभी देवों की शक्ति का कारण है, वही प्रकाशस्वरूप है, अतः वही सबको प्रकाश देता है। वही

ज्ञानी है अतः अन्यों को भी वही ज्ञान प्रदान करता है। इसी लिये वह स्वतन्त्र है तथा इसी कारण से वह सर्वशक्तिमान् भी है, और अन्तर्यामी भी है।

(२) दोनों प्रकार के देव जहाँ देते हैं, वहाँ कुछ न कुछ लेते भी हैं। वे सेवा भी चाहते हैं। परन्तु देवों का देव देता ही है लेता नहीं; क्योंकि उसको किसी भी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं। यह अपने आपमें पूर्ण है। अन्य सभी कुछ अपूर्ण हैं। इसकी पूजा भी हमारे अपने कल्याणार्थ ही है। उसे हमारी इस पूजा से किसी प्रकार का लाभ नहीं।

शीत से दुखी मनुष्य को ही अग्नि और कम्बल की आवश्यकता है; अग्नि और कम्बल को ठिठुरते हुए मनुष्य की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार जीव ही परमात्मा की सहायता चाहते हैं; परमात्मा को जीवों की किसी प्रकार की सहायता या सेवा की आवश्यकता नहीं है।

(३) संसार के माता, पिता, गुरु आदि देव क्रोध या नाराज़गी आने पर अपने सम्बन्धी को छोड़ देते हैं। संतान के कुचेष्टा या आज्ञाभंग अथवा किसी प्रकार के अन्य कुकर्म करने पर मा-बाप भी उसे छोड़ देते हैं, वे उसे अपनी सम्पत्ति के अधिकार से भी वंचित कर देते हैं और उसे घर से निकाल देते हैं। परन्तु यह देव ऐसा है कि जीवों के अनेक कुचेष्टाएँ करने पर भी उन्हें अपने से पृथक् नहीं करता और न कभी अपनी ज्ञान आदि सम्पत्ति से ही उन्हें वञ्चित रखता है।

वह कभी भी किसी प्रकार क्रुद्ध होकर किसी से बोलना बन्द नहीं करता। उसका दण्ड भी प्रेम भावना से जीवों के कल्याण के लिए ही होता है।

(४) दिव धातु का अर्थ क्रीड़ा भी है, जिससे 'देव' शब्द बनता है। इस तरह इसका अर्थ है, गति देना। वह परमात्मा संसार को गति देता है, अन्य किसी में इस प्रकार की बड़ी शक्ति देने का बल नहीं। मनुष्य किसी वस्तु में कुछ काल के लिए ही गति दे सकता है, जब उसकी दी हुई गति का संस्कार समाप्त हो जाता है, तब वह वस्तु गतिशून्य हो जाती है और उसे पुनः चलाने के लिए चेतन द्वारा गति देने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे एक लड़का जब लट्टू घुमाता है तो वह थोड़ी ही देर के लिए चलता है और फिर बन्द हो जाता है। परन्तु इस खगोल तथा भूगोल में लगे हुए असंख्य लट्टू एक बार की दी हुई उस महान् प्रभु की गति से सृष्टि के आयु पर्यन्त, अर्थात् ४ अरब बरसों के लगभग, घूमते रहेंगे और बीच में किसी की मरम्मत, तेल, चाबी तथा सफ़ाई आदि की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इतनी महान् गति देने वाला वह कितना शक्तिशाली देव है। अतः जिज्ञासु को चाहिए कि वह इन शक्तियों को अपने हृदय में स्थान देकर इसका चिन्तन करते हुए अपनी गुप्त शक्तियों को विकसित करे और देव पदवी को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। यह सब अपने वश की ही बात है। जैसे मनुष्य ऋतु-परिवर्तन से पूर्व ही उस ऋतु के अनुसार सामग्री एकत्रित कर लेता है,

तथा पशु-पत्ती आदि भी अपने निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं का संग्रह कर लेते हैं, इसी प्रकार मनुष्य को चाहिए मृत्यु, जिसका आगमन अवश्यम्भावी है, के आने से पूर्व ही गायत्री मन्त्र में वर्णित 'ओम्' आदि शब्दों पर अर्थसहित विचार कर दुख से अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छूटने की सामग्री का संचय कर ले। यह काम मनुष्य योनि में ही साध्य है, अन्य योनियों में नहीं।

धीमहि—इसका अर्थ है—हम ध्यान करें, पूजा करें तथा धारण करें। अर्थात् उस परम प्रभु की आज्ञा का पालन करें।

जिस प्रकार हमारे पूर्वज महात्मा लोगों ने गायत्री आदि मन्त्रों को सजीव करके लाभ उठाया और उसकी महिमा गाई, इसी प्रकार जिज्ञासु को भी चाहिए कि वह पूर्व वर्णित गायत्री के भूः, भुवः, स्वः आदि शब्दों द्वारा ओम् की स्तुति करके इनमें कहे हुए गुणों के अनुभव द्वारा संशय रहित हो जावे। इतना करने के पश्चात् वास्तविक रूप में "धीमहि" शब्द कहना सार्थक होता है अर्थात् उसी दशा में हम उसका ध्यान और स्मरण करते हैं। क्योंकि ओम् आदि आठ शब्दों का यदि निश्चय से साक्षात् नहीं हुआ, उन शब्दों के अतिरिक्त कोई उक्त गुणोंवाली जीवित शक्ति हमें प्रतीत ही नहीं हुई, तो हम जाप ही किसका कर रहे हैं ?

जिस प्रकार भौतिक अग्नि का ध्यान करने, उसे जगाने या प्रज्वलित करने का अभिप्राय यह है कि उसको जलाकर

उसकी शक्तियों से काम लिया जाये; उसको इतना उकसा देना कि वह तपाने लगे, शीत को दूर करने लगे, प्रकाश देने लगे, अँधेरे को भगा दे, और हमारा भोजन पकाने का काम दे सके। केवल 'अग्नि' शब्द के ध्यान करने-मात्र से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार 'धीमहि' तभी सार्थक, सजीव अथवा जाग्रत् किया जा सकता है, जब कि इस मन्त्र में वर्णित ईश्वर की स्तुति करनेवाले उपर्युक्त शब्दों में ईश्वर के जो गुण वर्णन किये गये हैं, उन गुणों से जिज्ञासु यथाशक्ति काम लेने लग जाये, उन्हें व्यवहार में लाये, अर्थात् अपने जीवन में उन गुणों का धारण कर ले।

जिज्ञासु को इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए—"भूः" ! तू प्राणों का प्राण है, मैं भी प्राणों को धारण करनेवाला बनूँ; तू प्राणों का देनेवाला है, मैं भी दूसरों को प्राण देनेवाला बनूँ। मैं किसी के प्राणों का हरण न करूँ। तू "भुवः" है अर्थात् दुखों से रहित है, मैं भी अपने जीवन को नियम-पूर्वक रखकर तथा तेरी आज्ञा में चलाकर स्वयं दुखों से रहित बनूँ। तू दूसरों के दुखों को हरता है, मैं भी दूसरों के दुखों को हरूँ। तू "स्वः" है, सुख-आनन्द का स्रोत है, मैं भी उन गुणों को धारण करूँ, जिससे मेरा जीवन भी आनन्दमय बने। तू दूसरों को सुख देता है, उनका कल्याण करता है, मैं भी सबको सुख देनेवाला तथा सबका कल्याण चाहनेवाला बनूँ। तू "सविता" है, तू संसार को प्राणियों के कल्याणार्थ रचता है, मैं भी तेरे पदार्थों के आधार पर संसार में एक

रचयिता बनूँ और मेरी रचना भी संसार के कल्याण के लिए ही हो। तू "वरेण्यं" है, वरने योग्य है, सबके प्रेम करने योग्य है और सब तुझे अपना कहते हैं, मैं भी संसार में ऐसे काम करूँ, जिससे सब मुझसे प्रेम करें, मुझे वरें और मैं सबका अपना बन जाऊँ। मैं किसी से द्वेष न करूँ। तू "भर्गः" है, तू पवित्रता, सत्य और प्रकाश का स्रोत है, मैं भी मन, वचन तथा कर्म से पवित्र व्यवहार करूँ, सत्य का आचरण करूँ तथा सम्पूर्ण कर्म ज्ञानपूर्वक करूँ, जिससे मेरे हृदय में किसी प्रकार का भय, शंका तथा लज्जा पैदा न हो। तू "देव" है, तेरी सम्पूर्ण रचना नियमपूर्वक है, तू कभी अपने नियमों से नहीं टलता, इसी कारण तू न्यायकारी है, मैं भी नियमपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ न्यायाचारी बनूँ। तू आलस्य से रहित हो सारे संसार को जीवन देता है, दिन-रात अपना कर्तव्य पालन करता है, मैं भी पुरुषार्थी बन कर अपने कर्तव्यों का पालन करूँ और देव-पदवी को प्राप्त होऊँ।

इस प्रकार प्रार्थना तथा चिन्तन करने से जिज्ञासु में ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होगी और प्रत्येक प्रकार का सुख तथा लाभ प्राप्त होगा। इसी उपाय से उपर्युक्त सभी शक्तियाँ जिज्ञासु के अन्दर विराजमान हो जायेंगी। यही 'धीमहि' शब्द का सजीव करना, यही उसका जाप करना तथा यही प्रभु की प्रार्थना करना है।

[८]

"धियो यो नः प्रचोदयात्"

धियो यो नः प्रचोदयात्—वह परमात्मा हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दे अर्थात् हमारी बुद्धि को असत्पथ से हटाकर शुभ-कर्मों में लगा हमें देवों जैसा मेधावी बनावे।

लोक-परलोक के कार्यों में सबसे अधिक बाधा डालनेवाला अहंकार है। इस अहंकार को दूर करना किसी विरले का ही काम है। यह रोग बड़े आदमियों का रोग है, क्योंकि विद्वान्, धनी, बली, राजा, महाराजा तथा प्रभुभक्तों में भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है। इसके साथ-साथ प्रकृति के चमत्कार भी मनुष्य को सत्पथ से दूर भगाने के कारण बनते हैं। जब जिज्ञासु उपर्युक्त विधि से कुछ काल के लिए स्तुति-प्रार्थना करता है, तो उसमें कुछ शक्तियाँ आ जाती हैं। जैसे अग्नि के पास बैठने से उष्णता तथा माता के गुणों का ध्यान

करने से कोमलता आदि गुण आ ही जाते हैं। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक और संगति से प्रभावित होनेवाला प्राणी है। वह स्वयं कुछ नहीं सीखता, अपितु उसे जैसी-जैसी संगति प्राप्त होती है, वैसे-वैसे संस्कार उसमें आ जाया करते हैं। यह भी स्वाभाविक है कि निर्बल बली के पास, मूर्ख विद्वान् के पास, निर्धन धनी के पास तथा रोगी वैद्य के पास अपनी दुर्बलताओं को दूर करने के लिए जाते हैं। यदि दुर्बल अपने से सबल का सहारा न ले तो फिर उसमें कोई शक्ति आ ही नहीं सकती।

(१) जो जितना शक्तिशाली होगा, उससे उतनी ही बड़ी चीज़ की माँग की जावेगी। महाराजाओं से कभी कोई एक पैसा नहीं माँगता। उनसे तो याचक इतना माँगेगा कि फिर उसे किसी दूसरे के द्वार पर जाकर माँगने की आवश्यकता न रहे।

(२) माँगने पर भी उसी को मिलता है जो अधिकारी हो। अनधिकारी को कुछ नहीं मिलता।

(३) किसी बड़े से मित्रता कर लेने पर बिना माँगे भी वस्तु मिल जाती है। किन्तु मित्रता समान गुणवालों में ही होती है। विपरीत गुणवालों में परस्पर प्रेम नहीं हो सकता। जो पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करता है, पिता उसके बिना माँगे ही उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण कर देता है। मित्र भी अपने मित्र का उसी दशा में ध्यान करता है, जब वह उस जैसे गुणों को धारण करता है। यदि एक मित्र सात्विक हो और दूसरा शराब आदि असद्व्यवहार करनेवाला

हो, तो वह अनाचारी उस श्रेष्ठ आचरण वाले मित्र से कुछ प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकता। परस्पर नियमानुकूल जीवन बनाने से ही कुछ प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसलिए जिज्ञासु को उचित है कि वह वैसे ही कर्म करे, जैसे उसके चरम लक्ष्य 'ओम्' में विद्यमान हैं।

(४) खाने, पीने, सोने, जागने आदि की इच्छा तो पशु तथा मनुष्य दोनों में समानरूप से प्राप्त होती है। संसार का ऐश्वर्य भी साधारण बुद्धि से प्राप्त हो जाता है। जिज्ञासु को तो उस राजाओं के राजा, देवाधिदेव से किसी ऐसी वस्तु की याचना करनी चाहिए, जिससे वह लोक-परलोक की सम्पत्ति का अधिष्ठाता बन जाय। महाप्रभु से किसी साधारण वस्तु की याचना करना मूर्खता ही है। उससे तो कोई ऐसी ही वस्तु माँगनी चाहिए, जिसे पाकर जिज्ञासु के लिए लोक-परलोक दोनों में और कुछ भी माँगना शेष न रह जाय।

(५) संसार की न्यूनताओं के दूर होने के पश्चात् जो विकार जिज्ञासु के हृदय में पैदा होता है, वह अहंकार है। और यह अहंकार परमात्मा से जीव के मेल के मार्ग में एक दीवार के समान है। जब तक इसे न हटाया जावेगा, तब तक परमात्मा से मेल न हो सकेगा और स्तुति आदि से प्राप्त-शक्तियाँ भी इससे नष्ट हो जायेंगी। इसलिए स्वत्ववाली बुद्धि (अहंकार) उत्पन्न ही न हो और यदि उत्पन्न भी हो, तो दूर हो जाए, यही "धियो यो नः प्रचोदयात्" का सजीव करना या उसे जगाना है। अर्थात् इस मन्त्र-भाग का जाप करते हुए

मनुष्य उस साधारण बुद्धि को छोड़कर मेधा, प्रज्ञा या ऋत-म्भरा बुद्धि को प्राप्त करने की प्रार्थना करता है। लोक तथा परलोक को सिद्ध करने अर्थात् जीवन को सफल बनाने के लिए और पशुत्व से मनुष्यत्व और मनुष्यत्व से देवत्व प्राप्त करने के लिए यदि कोई अखण्डनीय नुस्खा है, तो यह उत्तम बुद्धिप्राप्ति का ही है और इसलिए गायत्री-मंत्र में इसी बुद्धि की प्रार्थना की गई है।

हमारे लिए यदि माता, पिता और गुरु की कोई विशेषता है, तो वह इसी कारण कि वे हमारी बुद्धियों का विकास कर हमें उत्तमता की ओर चलावें; जैसा कि गुरु-मंत्र में कहा है। अर्थात् उनका सारा यत्न इस प्रकार का होना चाहिए कि हमें मेधा प्राप्त हो; वह बुद्धि, जो लोक और परलोक को सुधारने का एकमात्र नुस्खा है। उस बुद्धि की प्राप्ति ही साधक का लक्ष्य होना चाहिए, क्योंकि आत्म-सुधार का यही सर्वोत्तम उपाय है।

"धियो यो नः प्रचोदयात्" को सजीव करने से साधक में एक विचित्रता पैदा होती है। यह विचित्रता संसार में बड़े-बड़े चमत्कार दिखाती है। यही बुद्धि मनुष्य के संशय दूर कर आत्मविश्वास के सहारे उसे किसी विशेष महान् कार्य में प्रवृत्त करती है, जहाँ साधारण व्यक्ति की गति नहीं होती।

(१) यह इसी बुद्धि का चमत्कार है कि शंकरस्वामी ३२ वर्ष के छोटे-से जीवन में ही सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैले हुए नास्तिकवाद को दूर कर गए।

(२) ऋषि दयानन्द ने अज्ञान अन्धकार को हटा कर वेदों के सूर्य का प्रकाश किया। जिस कार्य को अनेक धुरन्धर विद्वान् न कर सके, वही कार्य इस मेधाबुद्धि से ऋषि ने सुकर बना दिया। संसार में वह वदों का नाद बजा गए।

(३) इस बुद्धि के चमत्कार से ही महात्मा गान्धी, जो कि एक दुबले-पतले से व्यक्ति हैं, अपने विचारों और कर्मों से संसार को चकित कर रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनके विचारों को ध्यान से पढ़ता और सुनता है। लाखों आदमी उनके विचारों से प्रभावित हो अपने को उन्नत बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

(४) यह भी बुद्धि का ही प्रभुत्त्व था, जब कि प्राचीनकाल में ऋषियों के आने पर महाराजा सिंहासन छोड़कर उठ खड़े होते थे और उनके चरणों में सिर नवाते थे। ऋषियों की इसी बुद्धि के प्रभाव के कारण राजा लोग हाथ बाँधे उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा किया करते थे।

(५) बुद्धि के प्रभाव से ही मध्य-युग में भाट अपनी कविता द्वारा सैनिकों के रक्त को उष्णता दे देते थे, तथा युद्ध की बलि वेदी पर न्योछावर होजाने के लिए उन्हें कटिबद्ध कर देते थे।

(६) आज बुद्धि के विकास के परिणाम स्वरूप ही घर में बैठा पुरुष रेडियो द्वारा सब देशों के समाचार सुन सकता है। आज मनुष्य आकाश में वायुयानों द्वारा पक्षियों की भाँति उड़ रहा है और वह अनेक प्रकार के दीर्घकाल में होनेवाले कार्य बहुत शीघ्र सम्पन्न करने लगा है।

(७) यह भी बुद्धि का ही गौरव है कि शेर के ऊपर बकरी बैठायी जाती है और शेर कुत्ते से डरने लगता है; एवं अपने स्वाभाविक आहार मांस को छोड़कर हिंसक पशु शेर दुग्धाहारी हो जाता है।

(८) यह अल्पज्ञ प्राणी, जिसका एक मक्खी पर भी अधिकार नहीं, उस राजाधिराज सृष्टि-रचयिता के साथ मित्रता कर लेता है और उससे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ लेता है कि उसे माता-पिता तथा मित्र आदि से पुकारने में कोई संशय नहीं करता।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो गया कि बुद्धि की याचना किस लिए की जाती है तथा इस बुद्धि से ही सारे महान् काय किस तरह सिद्ध किये जाते हैं। अतः इस बुद्धि को जाग्रत् करना ही इस मन्त्र में अभीष्ट है। यही मनुष्य का वास्तविक तप है, इस लक्ष्य-प्राप्ति के जो साधन व्यवहार में लाए जायें, वही तप नाम से पुकारे जाते हैं। उन साधनों को तप नाम से नहीं पुकारना चाहिए, जो इस बुद्धि को जाग्रत् अथवा संचित करने में असमर्थ हैं।

पूर्वोक्त स्तुति-प्रार्थना तभी सजीव होगी, जब यह बुद्धि जागेगी। जितना यह बुद्धि जागेगी, उतना ही स्तुति और प्रार्थना फलदायक होगी। अतः यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि गायत्री का जाप करते हुए यह बुद्धि किस प्रकार उत्पन्न हो तथा इसे किस प्रकार शीघ्रता से जगाया जाये, जिससे जिज्ञासु को इसी जन्म में इस गायत्री-मन्त्र के जाप का लाभ

अनुभव हो जाये और वह उस आनन्द को प्राप्त कर सके, जिसके लिए यह जाप किया जाता है।

(१) जिज्ञासु को पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि बुद्धि-परिवर्तन करने का, अर्थात् बुद्धि को उत्तम बनाने का, तात्पर्य यह है कि उसको सूक्ष्म बनाया जाये, जिससे उसमें सूक्ष्मतम विचारों को धारण करने की शक्ति भी आ जावे। क्योंकि जिज्ञासु का तो कार्य ही उस सूक्ष्मतम तथा परोक्ष सृष्टि के रचयिता के गुणों को जानना तथा उनका अनुभव करना है, इसलिए जिज्ञासु को चाहिए कि वह स्थूल (दुष्ट) भोजन, स्थूल विचार (बुरे विचार), दुष्ट संगति (असत्य व्यवहार) को छोड़ दे। अथवा इन बातों को धीरे-धीरे कम करते हुए क्रमशः वह सात्विक भोजन, सत्संग तथा स्वाध्याय की ओर रुचि बढ़ाने लगे। क्योंकि जितने कम या अधिक समय में कोई मनुष्य इस उपचार को काम में लायेगा, उतने ही समय में तथा उतनी ही मात्रा में उसकी बुद्धि सजीव होगी और उतना ही तथा उसी मात्रा में शीघ्र या देर से गायत्री-मंत्र का जाप फलदायक होगा, क्योंकि उस प्रभु के दरबार में जाकर जिस वाणी से उसके साथ बात करनी है, उस वाणी की वर्णमाला का पहला अक्षर सत्य ही है।

(२) जो जिज्ञासु पूर्व ही से सात्विक भोजन, सत्संग तथा स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त हैं, यदि वे इस गायत्री-मन्त्र को जगाकर लाभ उठाना चाहें तो उनको आज से ही व्रत अर्थात् दृढ़ संकल्प धारण करना चाहिये। सच्चे व्रतियों की भाँति उसके संकल्प

में दृढ़ता होनी चाहिए। इस दृढ़ संकल्प का परिणाम यह होगा कि जिज्ञासु की बुद्धि शीघ्र ही जाग जायेगी। वह शीघ्र ही गायत्री जाप के फल को पा लेगा।

जिज्ञासु ने जिस जगन्माता से यह बुद्धि लेनी है, वह तो सर्वव्यापक होने से उसके अन्दर पहले ही वर्तमान है, वह उससे दूर नहीं। जिस बच्चे को माता के स्तनों से दूध पीना है, उसकी माता जब उसके पास ही है तो दूध भी उससे कहीं दूर नहीं हो सकता। उस प्रज्ञाबुद्धि से जगन्माता के स्तन सदा भरे रहते हैं, क्योंकि वहाँ प्रतिक्षण ही आनन्द का स्रोत बह रहा है। वहाँ इसकी कमी नहीं तो फिर देर किस बात की है ? ऐसा जिज्ञासु, जो शीघ्र ही इसके फल को अनुभव करना चाहता है तथा जिसने सत्संग आदि से अपनी सात्विक वृत्ति बना ली है, यदि उसमें अभी कोई कमी बाक़ी है तो माता उस कमी को स्वयमेव पूर्ण करा लेगी।

इस कारण जिज्ञासु को चाहिए कि वह अपना दृष्टिकोण ही बदल दे अर्थात् यह अनुभव करने लगे कि मेरा अपनी माता की निधि पर पूर्ण अधिकार है और माता के पास जो कोष है, प्रज्ञा बुद्धि का एक अनुपम अमृत है, उसका मैंने पान करना है। उसी को निस्संकोच हो वह बरतना आरम्भ कर दे। इस कार्य में उसे किसी प्रकार की बाधा का ध्यान न लाना चाहिये। आज्ञाकारी पुत्र अपनी माता की वस्तु को अपना समझता है और उसे प्रत्येक प्रकार से प्रयोग में लाने लग जाता है। उस पर उसका पूर्ण स्वत्त्व हो जाता है।

चाहे वह उसे अपनी माता से माँगे या स्वयं ही ले ले। माता की शक्ति या सम्पत्ति अपने पुत्रों के लिए ही तो है और माता से बढ़कर कोई शक्ति नहीं जो इस में बाधा डाल सके। यदि कोई बाधा है तो वह अपनी ही दुर्बलता है, इसलिए इस व्रत को धारण करते हुए प्रज्ञाबुद्धि से ही संसार में व्यवहार करना चाहिए। इसके साथ ही साथ इस बुद्धि के लिए प्रार्थना भी अवश्य करते रहना चाहिए। इससे कोई भी सांसारिक वस्तु साधक को अपने मार्ग से भ्रष्ट न होने देगी।

एक बात जिज्ञासु को और भी ध्यान में रख लेनी चाहिए। जैसे कच्चे घड़े में पानी नहीं ठहरता, अपितु उसमें पानी डालने से घड़ा स्वयं गल जाता है, परन्तु पक्के घड़े में पानी मज़े में ठहरता है और तब पानी का घड़े पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार प्रभु के आनन्द का स्रोत सर्वत्र है, वह गायत्री-मन्त्र के जाप से ही मिल सकता है, किन्तु उसको धारण करने के लिए सबसे पहले मनुष्य को तप द्वारा अपनी इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शरीर को उसके धारण के योग्य बनाना चाहिये। इसलिए जो साधक ऐसा प्रयत्न करेगा, वह शीघ्र ही गायत्री मंत्र के फल को प्राप्त कर इसी जन्म में आनन्दमय बन जायेगा।

[६]

प्रामाणिक व्याख्याएँ

पाठकों की जानकारी के लिए गायत्री-मन्त्र की कतिपय प्राचीन और प्रामाणिक व्याख्याएँ यहाँ दी जाती हैं—

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(ऋग्वेद ३। ५। ६२। १०)

१-सायणभाष्य—

यः सविता देवः नोऽस्माकं धियः कर्माणि धर्मादिविषया वा बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयेत् तत् तस्य सर्वासु श्रुतिषु प्रसिद्धस्य देवस्य द्योतमानस्य सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत् स्रष्टुः परमेश्वरस्य आत्मभूतं वरेण्यं सर्वैरुपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयं भर्गः अविद्या तत् कार्ययोर्भर्जनात् भर्गः स्वयं ज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः धीमहि..............वयं ध्यायेम।

सायणभाष्य का हिन्दी अनुवाद—

जो सविता देव हमारी (धियः) कर्मों अथवा धर्मादि सम्बन्धी बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरित करता है (तत्) उस सब श्रुतियों में प्रसिद्ध (देवस्य) दीप्यमान प्रकाशमान चमकते हुए (सवितुः) सर्वान्तर्यामि रूप से सबको प्रेरणा देने वाले और सृष्टि रचनेवाले परमेश्वर के अपने अन्दर से आविर्भूत होनेवाले (वरेण्यं) सब लोगों से उपासनीय और ज्ञेय (भर्गः) अविद्या और उसके परिणाम रूप कार्यो का मर्जन नाश करनेवाले स्वयंप्रकाश रूप परब्रह्म रूप तेज का (धीमहि) हम ध्यान तथा चिन्तन करें।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(सामवेद० उः प्र० ८, अर्द्ध ३, सू १०)

सायणभाष्य—

सायण ने ऋग्वेद में जैसा लिखा है—सामवेद में भी गायत्री का अर्थ ठीक वैसा ही लिखा है।

२—उवट भाष्य—

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(यजु० ३। ३५+३६-३)

तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवदातुः आदित्यान्तरपुरुषस्य देवस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा विज्ञानानन्दस्वभावस्य वा ब्रह्मणः। वरेण्यं वरणीयम्। भर्गः। भर्गशब्दो वीर्यवचनः।

......तेन हि पापं भृज्जति दहति। अथवा भर्गस्तेजोवचनः। × × × देवस्य दानादिगुणयुक्तस्य। धीमहि 'ध्यै चिन्तायाम्' अस्य छान्दसं संप्रसारणम्। ध्यायामः चिन्तयामः। निदिध्यासं तद्विषयं कुर्म इति यावत्। धियो यो नः। धि-शब्दो बुद्धिवचनः कर्मवचनो वा वाग्वचनश्च। बुद्धीः कर्माणि वा वाचो वा। यः सविता नोऽस्माकं प्रचोदयात् × × प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति तस्य सवितुः सम्बन्धि-वीर्यं तेजो वा ध्यायाम इति सम्बन्धः॥

उवट भाष्य का हिन्दी अनुवाद—

(तस्य सवितुः) सबको पैदा करनेवाले आदित्य के अन्दर रहनेवाले पुरुष के और (देवस्य) हिरण्यगर्भोपाधि से युक्त अथवा विज्ञानानन्द स्वभाववाले ब्रह्म के (वरेण्यम्) वरणीय वरे जाने के योग्य। (भर्गः) भर्ग शब्द का अर्थ वीर्य है।.........क्योंकि इससे पाप का दाह होता है। भर्ग शब्द का अर्थ तेज भी है।......(देवस्य) दानादि गुणों से युक्त (धीमहि) (ध्यै चिन्तायाम्) ध्यै धातु को छान्दस नियमों के अनुसार सम्प्रसारण किया गया है। ध्यायाम चिन्ता करें, विचार करें। चिन्तन करें। (धियो यो नः) धी शब्द के बुद्धि, कर्म और वाणी तीन अर्थ हैं। जो सविता हमारी बुद्धियों, कर्मों और वाणियों को प्रेरणा देता है। उस सविता सम्बन्धी वीर्य अथवा तेज का हम चिन्तन करें।

३–महीधर भाष्य—

तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो विज्ञानानन्दस्वभावस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा आदित्यान्तर पुरुषस्य वा ब्रह्मणो वरेण्यं वरणीयं सर्वैः प्रार्थनीयं भर्गः सर्वपापानां सर्वसंसारस्य च भर्जनसमर्थं तेजः सत्यज्ञानानन्दानि वेदान्तप्रतिपादनं वयं धीमहि ध्यायामः ।...... यः सविता नोऽस्माकं धियः बुद्धीः कर्माणि वा प्रचोदयात् प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति सत्कर्मानुष्ठानाय ।

महीधर भाष्य का हिन्दी अनुवाद—

उस (देवस्य) प्रकाशमान (सवितुः) प्रेरणा करने वाले अन्तर्यामी विज्ञानानन्द स्वभाव हिरण्यगर्भोपाधि से युक्त अथवा आदित्य में रहने वाले पुरुष अथवा ब्रह्म के (वरेण्यं) स्वीकरणीय अथवा प्रार्थनीय (भर्गः) सब पापों अथवा संसार को नष्टभ्रष्ट या भस्मसात् करने के लिए समर्थ तेज वेदान्त शास्त्रों से प्रतिपादित सत्य-ज्ञान रूप ब्रह्म का हम ध्यान करें। जो (सविता) उत्पादक (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों और कर्मों को अच्छे कार्यों के करने के लिए प्रेरित करे।

अथर्ववेद में गायत्री-मंत्र नहीं है।

४–गायत्री-मंत्र का अर्थ जो यजुर्वेद में ऋषि दयानन्द जी महाराज ने किया है, निम्नलिखित है—

1. *भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥* (मंत्र ३ । अ० ३६ यजु०)

पदार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग (भूः) कर्मकाण्ड की विद्या (भुवः) उपासना काण्ड की विद्या और (स्वः) ज्ञानकाण्ड की विद्या को संग्रहपूर्वक पढ़के (यः) जो (नः) हमारी (धियः) धारणवती बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे उस (देवस्य) कामना के योग्य (सवितुः) समस्त ऐश्वर्य के देने वाले परमेश्वर के (तत्) उस इन्द्रियों से न ग्रहण करने योग्य परोक्ष (भर्गः) सब दुःखों के नाशक तेज स्वरूप का (धीमहि) ध्यान करें वैसे तुम लोग भी इस का ध्यान करो ॥ ३ ॥

II. *तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥*

(मंत्र ३५ । अ० ३)

हम लोग (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करनेवाले (देवस्य) प्रकाशमय शुद्ध वा सुख देनेवाले परमेश्वर का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ (भर्गः) पापरूप दुःखों के मूल को नष्ट करनेवाला (तेजः) स्वरूप है (तत्) उस को (धीमहि) धारण करें और (यः) जो अन्तर्यामी सब सुखों का देने वाला है वह अपनी करुणा करके (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धियों को उत्तम उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरित करें ।

III. *तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥*

(ऋग्वेद मण्ड० ३ सू० ६२ मंत्र१०)

पदार्थ—(तत्) (सवितुः) सकलजगदुत्पादकस्य समग्रैश्वर्य्ययुक्तस्येश्वरस्य (वरेण्यम्) सर्वेभ्यः उत्कृष्टं प्राप्तुं योग्यम् (भर्गः) भृज्जन्ति पापानि दुःखमूलानि येन तत् (देवस्य) सकलैश्वर्यप्रदातुः प्रकाशमानस्य सर्वप्रकाशकस्य सर्वत्र व्याप्तस्याऽन्तर्यामिणः (धीमहि) दधीमहि (धियः) प्रज्ञाः (यः) (नः) अस्माकम् (प्रचोदयात्) सद्गुणकर्म स्वभावेषु प्रेरयतु ॥

पदार्थ हिन्दी—हे मनुष्यो ! हम सब लोग (यः) जो (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) उत्तम गुण कर्म स्वभावों में प्रेरित करे उस (सवितुः) सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त स्वामी और (देवस्य) सम्पूर्ण ऐश्वर्य के दाता प्रकाशमान सब के प्रकाश करनेवाले सर्वत्र व्यापक अन्तर्यामी के (तत्) उस (वरेण्यम्) सब से उत्तम प्राप्त होने योग्य (भर्गः) पापरूप दुःखों के मूल को नष्ट करने वाले प्रभाव को (धीमहि) धारण करें ।

IV. *ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥* (यजु० अ० ३६ । म० ३)

इस मन्त्र में जो प्रथम 'ओ३म्' है उसका अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना । अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं । (भूरिति वै प्राणः । यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः) जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और

स्वयम्भू है उस प्राण का वाचक होके 'भूः' परमेश्वर का नाम है। (भुवरित्यपानः। यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः) जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। (स्वरिति व्यानः। यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः) जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण करता है इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। यह तीनों वचन तैत्तरीय आरण्यक [प्रपा० ७। अनु० ५] के हैं। (सवितुः यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य) जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है, (देवस्य—यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः) जो सर्व सुखों का देने हारा और जिसकी प्राप्ति की सब कामना करते हैं उस परमात्मा का जो (वरेण्यम् वर्त्तुमर्हम्) स्वीकार करने योग्य अति श्रेष्ठ, (भर्गः शुद्धस्वरूपम्) शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्म स्वरूप है (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि धरेमहि) धारण करें। किस प्रयोजन के लिए कि (यः जगदीश्वरः) जो सविता देव, परमात्मा (नः अस्माकम्) हमारी (धियः बुद्धीः) बुद्धियों को (प्रचोदयात् प्रेरयेत्) प्रेरणा करे, अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

हे परमेश्वर! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप! हे नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव! हे अज निरञ्जन निर्विकार! हे सर्वान्तर्यामिन्! हे सर्वाधार जगत्पते! सकलजगदुत्पादक!

हे अनादे ! विश्वम्भर ! सर्वव्यापिन् ! हे करुणामृत-वारिधे ! सवितुर्देवस्य तव यदोंभूर्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति तद्वयं धीमहि, दधीमहि, धरेमहि, ध्यायेम वा। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह ! हे भगवन् ! यः सविता देवः परमेश्वरो भवानस्माकं धियः प्रचोदयात्। स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु नातोऽन्यं भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च कञ्चित् कदाचिन्मन्यामहे।

हे मनुष्यो ! जो सब समर्थों में समर्थ सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्यशुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त स्वभाववाला, कृपासागर, ठीक-ठीक न्याय का करने हारा, जन्म मरणादि क्लेशरहित, आकाररहित, सबके घट-घट का जाननेवाला, सबका धर्त्ता, पिता, उत्पादक, अन्नादि से विश्व का पोषण करने हारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिये कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार अधर्म्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार सत्य मार्ग में चलावे। उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग न करें। क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है।

—सत्यार्थप्रकाश, ३रा समुल्लास

V. 'ओ३म्' की व्याख्या—

(ओ३म्) जो अकार, उकार और मकार के योग से (ओ३म्) यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है, जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं जैसे पिता-पुत्र का प्रेम-सम्बन्ध है वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है, इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है जैसे अकार से (विराट्) जो विविध जगत् का प्रकाश करनेवाला है। (अग्निः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। (विश्वः) जिस में सब जगत् प्रवेश कर रहा है और जो सर्वत्र प्रविष्ट है, इत्यादि नामार्थ अकार से जानना चाहिये। उकार से (हिरण्यगर्भः) जिसके गर्भ में प्रकाश करनेवाले सूर्यादि लोक हैं, और जो प्रकाश करने हारे सूर्यादि लोकों का उत्पन्न करने वाला है। इससे ईश्वर को हिरण्यगर्भ कहते हैं, ज्योतिः के नाम हिरण्य, अमृत और कीर्ति हैं। (वायुः) जो अनन्त बलवाला और सब जगत् का प्रकाशक है, इत्यादि अर्थ उकारमात्र से जानना चाहिए। तथा मकार से (ईश्वरः) जो सब जगत् का उत्पादक सर्वशक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है, (आदित्यः) जो नाशरहित है, (प्राज्ञः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है इत्यादि अर्थ मकार से समझ लेना, यह संक्षेप से ओंकार का अर्थ किया गया।

—पञ्चमहायज्ञविधिः

इति